मोक्ष-दर्शन

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज

अखिल भारतीय सन्तमत-सत्संग प्रकाशन-समिति

प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थान

अखिल भारतीय सन्तमत-सत्संग प्रकाशन-समिति
महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट
पत्रालय-बरारी, भागलपुर-३

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण : ३,००० प्रतियाँ, २०२३ वि० संवत्
द्वितीय संस्करण : ३,००० प्रतियाँ, २०२७ वि० संवत्
तृतीय संस्करण : ३,००० प्रतियाँ,
चतुर्थ संस्करण : ३,१०० प्रतियाँ, २०४३ वि० संवत्
पंचम संस्करण : ३,१०० प्रतियाँ, २०६९ वि० संवत्

ewY; % १५@&#i;s ek=

मुद्रक

शांति-संदेश प्रेस
महर्षि मेँहीँ आश्रम,
कुप्पाघाट, भागलपुर—३ (बिहार)

प्रकाशक की दृष्टि

विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा अवश्य ही भारत अधिक अध्यात्म-भावापन्न देश है। वैदिक काल को अनेक विद्वान् विचारक अध्यात्म का स्वर्णिम काल कहकर उद्घोषित करते हैं; क्योंकि उस समय जन-जीवन बड़ा ही शांतिमय और सुखद था और ऋषि-मुनियों की तपस्या के पुनीत तेज से सारा समाज आच्छादित-सा था। उस दिव्य काल के शीर्षस्थ ऋषि या शांति-प्राप्त संतजन की हार्दिक अभिलाषा थी—'सभी सुखी हों और रहें, सभी आरोग्यमय जीवन बिताएँ, सभी सर्वजीवों के लिए भद्र-शुभ—कल्याण ही देखें अर्थात् केवल सर्वकल्याण के लिए ही सांसारिक कर्तव्य करें और किसी को भी किसी प्रकार के दुःख की प्राप्ति न हो।'

तपःतेज से उत्प्राणित वाणी का प्रभाव और दबाव उस समय अवश्य ही छाया हुआ था, पर इसी के अंतराल में महामाया की मोहकारिणी लीला भी संचरित थी। अपनी जाति, अपना शासन-क्षेत्र, अपनी भाषा, अपना रीति-रिवाज आदि संकीर्णताओं या सीमा-विभेद करनेवाली वृत्तियों की संख्या बढ़ती गयी। धर्मतत्त्व की नैसर्गिक अखण्डता को भी छद्मजाल से भेदों और खण्डों में दिखाया जाने लगा। वशिष्ठ और विश्वामित्र के काल से लेकर आजतक माया की इस छद्मलीला से सुबुद्ध जन अपरिचित नहीं है। महामानव बुद्धदेव ने इस कपट को पहचाना और इसका संवेधन किया। इसीलिए बुद्धकाल को हम मानवता के कल्याण-विस्तारण का 'हीरक काल' कहकर बोध ले सकते हैं।

एक दिन पूज्यपाद महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज ने अपना हार्दिक भाव इन शब्दों में व्यक्त किया था—

'जिसको कोई नहीं पूछता—कोई पूछनेवाला नहीं है, ऐसा

व्यक्ति जब मेरे पास दीक्षा—भजन-भेद लेने आता है, तो आनन्द से मेरा हृदय परिपूर्ण हो जाता है।'

इन वाणियों की ऊर्जस्वित सर्वजन-कल्याण-भावना, ऐसा लगता है, जैसे मानव-समाज के सारे कलुषित आवरणों को अपने अदम्य शक्तिशाली विस्फोट से चूर्ण-विचूर्ण कर विश्व-भर में छा जाने के लिए आतुर-आकुल हो। इसीलिए उनके अन्तर से प्रस्फुटित यह वाणी अपने मंगल-निनाद को ऊँचे-से-ऊँचे उठाये जा रही है—

जितने मनुष तनधारि हैं, प्रभु भक्ति कर सकते सभी।
अन्तर व बाहर भक्ति कर, घट-पट हटाना चाहिए॥

कल्याण-पाद महर्षिजी ने वेद-काल से लेकर आजतक के मोक्ष-दर्शन को चार प्रकोष्ठों में प्रतिष्ठित किया है और उसका नाम रखा है—'सत्संग-योग, चारो भाग' और उनके अनुभव-ज्ञान की वाणियाँ गम्भीर सरलता में अभिव्यक्त होकर 'मोक्ष-दर्शन' नाम धारण कर आज मुमुक्षुजनों में अमृत-वितरण के लिए प्रस्तुत है। हमारी यही अभिलाषा मानवता का 'चैतन्य प्रसाद' बने—परम प्रभु से हमारी यही प्रार्थना है।

महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट,
भागलपुर
सं० २०६९ विक्रमीय

विनीत
अ०भा० संतमत-सत्संग
प्रकाशन-समिति

भूमिका

सामान्यतः 'मैं हूँ' का ज्ञान मनुष्य को स्वतः होता है। उसको यह जानने में कठिनाई नहीं होती कि वह शारीरिक, मानसिक और सांसारिक बंधनों एवं विकारों से जकड़ा हुआ है। परिणाम-स्वरूप स्वतंत्रता-रहित होने के कारण वह शांतिमय सुख से वंचित रहता है। इस हेतु उपर्युक्त बंधनों, विकारों एवं कष्टों से छूटने तथा आत्म-स्वतंत्रता का शांतिमय स्थिर सुख लाभ करने का ज्ञान और उसकी युक्ति उसे अवश्य प्राप्त करनी चाहिए, जो संतों के संग और उनकी सेवा के सिवाय अन्य कहीं से प्राप्त होने योग्य नहीं है।

मोक्ष-संबंधी पर्याप्त ज्ञान के हेतु मैंने वेदार्थ*, उपनिषद्, संतवाणी तथा अन्यान्य सद्ग्रंथों का अध्ययन किया। श्रीसद्गुरु महाराजजी का संग तो था ही, इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र भ्रमण करके मैंने अन्य महात्माओं का भी सत्संग किया। वर्णित सद्ग्रंथों में से मोक्ष-विषयक सद्ज्ञान का संग्रह कर उसे तीन भागों में विभक्त कर दिया। सत्संग, अध्ययन और वर्षों के साधनाभ्यास की अनुभूतियों से जो कुछ मेरी जानकारी में आया—जैसा कुछ मुझे बोध हुआ, उन सबको अपने वाक्यों में गठित कर मैंने चौथे भाग का निर्माण किया। पश्चात् चारो को मिलाकर उस बृहत् पुस्तक का नाम मैंने 'सत्संग-योग' रखा।

'सत्संग-योग' के चौथे भाग में यत्र-तत्र प्रमाण-स्वरूप कुछ संतों की वाणियाँ भी दी गयी हैं। ईश्वर, जीव, जगत्, जीव का बंध और मोक्ष, मोक्ष-मार्ग पर चलने का सहारा और उसकी युक्ति प्रभृति मोक्ष-विषयक जिन बातों का ज्ञान मनुष्य को अनिवार्य रूप से होना चाहिए, वह समस्त ज्ञान इस चौथे भाग में है। 'सत्संग-योग' के प्रथम

* पं० श्रीजयदेव शर्मा विद्यालंकार मीमांसा तीर्थ अजमेर कृत।

तीनों भागों में-से प्रत्येक भाग में मोक्ष-विषयक ज्ञान जिस भाँति पूर्णरूप से भरे पड़े हैं और इसमें मुझे कुछ भी संदेह नहीं है, इसी प्रकार इस चौथे भाग में भी मेरा पूर्ण विश्वास है। इस भाग में केवल मेरे गद्यात्मक वाक्य हैं, जो सुगमता से समझ में आने योग्य हैं।

जीवन-काल में मोक्ष प्राप्त किये जीवन्मुक्त महापुरुष ही यथार्थ में 'संत' हैं। इनसे विशेष मोक्ष-संबंधी ज्ञान अन्य किसी को नहीं हो सकता। इसमें इसी हेतु मैंने 'संत' और 'संतमत' का वर्णन सर्वप्रथम किया है।

कुछ सत्संगियों की राय हुई कि स्वल्प मूल्य में मोक्ष-संबंधी ज्ञान मुमुक्षु पाठकों को प्राप्त हो सके, इसके लिए 'सत्संग-योग' के केवल चौथे भाग का ही प्रकाशन हो। प्रस्तुत 'मोक्ष-दर्शन' पुस्तक इसी कारण के निवारण के लिए प्रकाशित की गयी।

पाठकगण इसके पाठ से लाभान्वित हों, इसके लिए मैं परम प्रभु परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ।

कुप्पाघाट आश्रम, भागलपुर
चैत्र शुक्ल एकादशी — सत्संग-सेवक
सं० २०२३ विक्रमीय — *मैंहीं*

सूची-पत्र

१. शांति, सन्त और संतमत की परिभाषा, उपनिषद् और संतवाणी की एकता और संतमत की मूल भित्ति उपनिषद् ही है। १

२. नादानुसंधान या सुरत-शब्द-योग ही संतमत की विशेषता है। इसे ही नाम-भजन या ध्वन्यात्मक सारशब्द का भजन भी कहते हैं। २

३. जड़ और चेतन प्रकृति की सान्तता और इसके परे अनन्त की स्थिति की अनिवार्यता। अनन्त-तत्त्व एक, अनादि, जड़ातीत, चैतन्यातीत और मायिक विस्तृतत्व-विहीन है, यही संतमत का परम अध्यात्म-पद है। ३

४. परा-अपरा प्रकृति, अंशी-अंश, आत्म-अनात्म तथा क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ और आच्छादन-तत्त्वों के रूपों का विचार। ३-५

५. परम प्रभु की प्राप्ति के बिना कल्याण नहीं। ५

६. क्षर-अक्षर, सत्-असत् का विचार, परम प्रभु की मौज बिना सृष्टि नहीं होती; मौज, कम्प एवं शब्द की अनिवार्य एकता और आदि कम्प एवं आदिशब्द ही सृष्टि का साराधार है। ६

७. आदिनाद को ही रामनाम, सत्यनाम, ॐकार आदि कहा जाता है, शब्द का गुण, सृष्टि के दो बड़े मण्डल, अपरा प्रकृति के चार मण्डल, पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड के मण्डलों का संबंध, भिन्न-भिन्न मण्डलों के केन्द्र। ७-९

८. केन्द्रीय शब्दों का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर है, सूक्ष्म शब्द स्थूल में व्यापक तथा विशेष शक्तिशाली होता है। केन्द्रीय शब्दों को पकड़कर सर्वेश्वर तक पहुँच सकते हैं। ९-१०

९. प्रकृति कैसे अनाद्या है? कैवल्य शरीर चेतन है। १०

१०. अनन्त से बढ़कर कोई अधिक सूक्ष्म तथा विस्तृत नहीं हो सकता। अपरिमित का परिमित पर शासन होना अनिवार्य है। प्रभु-प्राप्ति के लिए अन्तर में यात्रा क्यों आवश्यक है? १०-१२

११. अन्तर में चलना प्रभु की भक्ति तथा अन्तर- सत्संग है। मन की एकाग्रता एकविन्दुता है। १२-१३

१२. दूध में घी की भाँति मन में सुरत है। सृष्टि के जिस मण्डल में जो रहता है, वह वहीं का अवलम्ब लेता है। सिमटाव का स्वभाव। १३-१४

१३. दृष्टि-योग का संकेत, दिव्य दृष्टि कैसे खुलती है? १४

१४. दृष्टि-योग से नादानुसंधान की योग्यता, निम्न मण्डल की शब्द-धारा पकड़कर ऊँचे लोक में प्रवेश और वहाँ की शब्द-धारा का ग्रहण। शब्द-साधन का मन पर प्रभाव, पंच पापों का त्याग और सद्गुरु की सेवा, उनका सत्संग तथा अतिशय ध्यानाभ्यास की आवश्यकता। १४-१५

१५. सगुण-निर्गुण उपासना की क्रमबद्धता और भेद, उपनिषदों में वर्णित शब्दातीत पद, गीतोक्त क्षेत्रज्ञ तत्त्व और अनाम तत्त्व की अभिन्नता तथा इससे परे कोई अन्य तत्त्व नहीं है। १६-१७

१६. सारशब्द के अतिरिक्त मायिक शब्दों का भी ध्यान आवश्यक है, दृष्टियोग से शब्दयोग आसान है। १७-१८

१७. जड़ात्मक प्रकृति मण्डल के अन्दर सारशब्द की प्राप्ति होनी युक्तियुक्त नहीं, शब्द-ध्यान भी ज्योति-मण्डल में पहुँचा देता है। १८

१८. सारशब्द अलौकिक है। इसकी नकल लौकिक शब्दों में नहीं हो सकती। किसी वर्णात्मक शब्द को सारशब्द की नकल कहनी अयुक्त है। १८-२०

१९. जो सब मायिक शब्द नीचे के दर्जे में सुने जा सकते हैं, वे ही शब्द ऊपर के दर्जे में भी सुनाई पड़ सकते हैं—उत्कृष्ट रूप में और इनका अभ्यास करना भी उचित ही है। २०-२१

२०. स्थूल मण्डल के शब्दों की अपेक्षा सूक्ष्म मण्डल के शब्द विशेष सुरीले तथा मधुर होते हैं। कैवल्य पद में शब्द की विविधता नहीं है। चारो साधन-विधियों की युक्तियुक्तता। २२

२१. गुरु-भक्ति बिना परम कल्याण नहीं, सद्गुरु की पहचान, उनकी सर्वश्रेष्ठता, गुरु के आचरण का शिष्यों पर प्रभाव। २२-२५

२२. गुरु की आवश्यकता और सहारा। २५-२७

२३. गुरु-कृपा का वर्णन, गुरु-भक्ति की आवश्यकता। २८-२९
२४. संतमत की उपयोगिता, भिन्न-भिन्न इष्टों की आत्मा एक ही है। २९
२५. नादानुसंधान की विधि, यम-नियम के भेद। २९-३०
२६. तीन बंद, ध्यान से प्राण-स्पन्दन का बंद होना, मन पर दृष्टि का प्रभाव श्वास के प्रभाव से अधिक है। साधक को स्वावलम्बी होना आवश्यक है। ३१-३२
२७. मांस-मछली और मादक द्रव्यों का त्याग आवश्यक है, शुद्ध आत्मा का स्वरूप। ३३-३४
२८. जीवता का उदय हुआ है, इसका नाश भी किया जा सकेगा। आत्मा अनन्त है, अतः इसका मिटना असम्भव, मोक्ष-साधक का बारम्बार उत्तम मनुष्य-जन्म। ३४
२९. परम प्रभु की सृष्टि की मौज का लौट आना असम्भव। ३४
३०. ईश्वर-भक्ति या मुक्ति का साधन एक ही बात। ३५
३१. परम प्रभु सर्वेश्वर का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने का साधन। ३५-४०
३२. ॐकार वर्णन ४०
३३. सगुण-निर्गुण तथा उनसे परे अनाम की उपासनाओं का विवेचन। ४०-४४

पद्य

१. सब क्षेत्र क्षर अपरा परा पर ४४
२. सर्वेश्वरं सत्य शांति स्वरूपं ४५

सद्गुरु-स्तुति

३. नमामी अमित ज्ञान रूपं कृपालं ४६
४. सद्गुरो नमो सत्य ज्ञानं स्वरूपं ४७
५. सत्य ज्ञानदायक गुरु पूरा ४८
६. सम दम और नियम यम दस-दस ४९
७. मंगल मूरति सतगुरु ४९
८. जय-जय परम प्रचण्ड तेज ५०
९. सतगुरु सत परमारथ रूपा ५१
१०. जय जयति सद्गुरु जयति जय ५१
११. सतगुरु सुख के सागर शुभ गुण आगर ५२

आत्म-स्वरूप

१२. प्रभु अकथ अनाम अनामय ५२
१३. नहीं थल, नहीं जल, नहीं वायु ५२
१४. है जिसका नहीं रंग नहिं रूप ५५

उपदेश

१५. सृष्टि के पाँच हैं केन्द्रन ५७
१६. पाँच नौबत विरतन्त कहौं ५७
१७. खोजो पन्थी पंथ तेरे घट भीतरे ५८
१८. नित प्रति सत्संग कर ले प्यारा ५८
१९. यहि मानुष देह समया में ५९
२०. अद्भुत अन्तर की डगरिया ५९
२१. सुनिये सकल जगत के वासी ५९
२२. समय गया फिरता नहीं ६१
२३. सन्तमते की बात कहूँ साधक हित लागी ६१
२४. मुक्ती मारग जानते ६२
२५. सत्य सोहाता वचन कहिय ६२
२६. योग-हृदय वृत्त केन्द्र-विन्दु ६५
२७. योग हृदय में वास ना ६५
२८. एकविन्दुता दुर्बीन हो ६६
२९. योग हृदय-केन्द्र-विन्दु में ६६
३०. गुरु हरि चरण में प्रीति हो ६६
३१. प्रभु मिलने जो पथ धरि जाते ६७
३२. सुष्मनियाँ में नजरिया थिर होइ ६७
३३. जीवो! परम पिता निज चीन्हो ६७
३४. सूरति दरस करन को जाती ६८
३५. भाई योग-हृदय-वृत्त-केन्द्र-विन्दु ६८
३६. मन तुम बसो तीसरो नैना महँ ६८
३७. जहाँ सूक्ष्म नाद ध्वनि आज्ञा आज्ञाचक्र ६८

आरती

३८. अज अद्वैत पूरण ब्रह्म पर की ६९
३९. आरती परम पुरुष की कीजै ७०
४०. आरती अगम अपार पुरुष की ७०

सत्संग-योग

भाग ४

गद्य

(१) शान्ति स्थिरता वा निश्चलता को कहते हैं।

(२) शान्ति को जो प्राप्त कर लेते हैं, सन्त कहलाते हैं।

(३) सन्तों के मत वा धर्म को सन्तमत कहते हैं।

(४) शान्ति प्राप्त करने का प्रेरण मनुष्यों के हृदय में स्वाभाविक ही है। प्राचीन काल में ऋषियों ने इसी प्रेरण से प्रेरित होकर इसकी पूरी खोज की और इसकी प्राप्ति के विचारों को उपनिषदों में वर्णन किया। इन्हीं विचारों से मिलते हुए विचारों को कबीर साहब और गुरु नानक साहब आदि सन्तों ने भी भारती और पंजाबी आदि भाषाओं में सर्व-साधारण के उपकारार्थ वर्णन किया; इन विचारों को ही सन्तमत कहते हैं; परन्तु सन्तमत की मूल भित्ति तो उपनिषद् के वाक्यों को ही मानने पड़ते हैं; क्योंकि जिस ऊँचे ज्ञान का तथा उस ज्ञान के पद तक पहुँचाने के जिस विशेष साधन-नादानुसन्धान अर्थात् सुरत-शब्द-योग का गौरव सन्तमत को है, वे तो अति प्राचीन काल के इसी भित्ति पर अंकित होकर जगमगा रहे हैं। सत्संग-योग के प्रथम, द्वितीय और तृतीय; इन तीनों भागों को पढ़ लेने पर इस उक्ति में संशय रह जाय, सम्भव नहीं है। भिन्न-भिन्न काल तथा देशों में सन्तों के प्रकट होने के कारण तथा इनके भिन्न-भिन्न नामों पर इनके अनुयायियों द्वारा सन्तमत के भिन्न-भिन्न नामकरण होने के कारण संतों के मत में पृथक्त्व ज्ञात होता है; परन्तु यदि

मोटी और बाहरी बातों को तथा पन्थाई भावों को हटाकर विचारा जाय और सन्तों के मूल एवं सार विचारों को ग्रहण किया जाय, तो यही सिद्ध होगा कि सब सन्तों का एक ही मत है। सब सन्तों का अन्तिम पद वही है, जो पारा-संख्या ११ में वर्णित है और उस पद तक पहुँचने के लिए पारा संख्या ५९ तथा ६१ में वर्णित सब विधियाँ उनकी वाणियों में पायी जाती हैं। सन्तों के उपास्य देवों में जो पृथक्त्व है, उसको पारा-संख्या ८६ में वर्णित विचारानुसार समझ लेने पर यह पृथक्त्व भी मिट जाता है। पारा-संख्या ११ में वर्णित पद का ज्ञान तथा उसकी प्राप्ति के लिए नादानुसन्धान (सुरत-शब्द-योग) की पूर्ण विधि जिस मत में नहीं है, वह सन्तमत कहकर मानने योग्य नहीं है; क्योंकि सन्तमत के विशेष तथा निज चिह्न ये ही दोनों हैं। नादानुसन्धान को नाम-भजन भी कहा जाता है (पारा-संख्या ३५ में पढ़िये)। किसी सन्त की वाणी में जब नाम को अकथ वा अगोचर वा निर्गुण कहा जाता है, तब उस नाम को ध्वन्यात्मक सारशब्द ही मानना पड़ता है; यथा–

अदृष्ट अगोचर नाम अपारा। अति रस मीठा नाम पियारा।।
(गुरु नानक)

बंदउँ राम नाम रघुवर को। हेतु कृसानु-भानु-हिमकर को।।
विधि हरिहर मय वेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सो।।
नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी।।
(गोस्वामी तुलसीदास)

सन्तो सुमिरहु निर्गुन अजर नाम। (दरिया साहब, बिहारी)
जाके लगी अनहद तान हो, निर्वाण निर्गुण नाम की।
(जगजीवन साहब)

(५) चेतन और जड़ के सब मण्डल सान्त (अंत-सहित) और अनस्थिर हैं।

(६) सारे सांतों के पार में अनंत भी अवश्य ही है।

(७) अनन्त एक से अधिक कदापि नहीं हो सकता, और न इससे भिन्न किसी दूसरे तत्त्व की स्थिति हो सकती है।

(८) केवल अनन्त तत्त्व ही सब प्रकार अनादि है।

(९) इस अनादि अनन्त तत्त्व के अतिरिक्त किसी दूसरे अनादि तत्त्व का होना सम्भव नहीं है।

(१०) जो स्वरूप से अनन्त है, उसका अपरम्पार शक्तियुक्त होना परम सम्भव है।

(११) अपरा (जड़) और परा (चेतन); दोनों प्रकृतियों के पार में अगुण और सगुण पर, अनादि-अनंतस्वरूपी, अपरम्पार शक्तियुक्त, देशकालातीत, शब्दातीत, नाम-रूपातीत, अद्वितीय; मन, बुद्धि और इन्द्रियों के परे जिस परम सत्ता पर यह सारा प्रकृतिमण्डल एक महान् यंत्र की नाईं परिचालित होता रहता है; जो न व्यक्ति है और न व्यक्त है, जो मायिक विस्तृतत्व-विहीन है, जो अपने से बाहर कुछ भी अवकाश नहीं रखता है, जो परम सनातन, परम पुरातन एवं सर्वप्रथम से विद्यमान है, संतमत में उसे ही परम अध्यात्म-पद वा परम अध्यात्म-स्वरूपी परम प्रभु सर्वेश्वर (कुल्ल मालिक) मानते हैं।

(१२) परा प्रकृति वा चेतन प्रकृति वा कैवल्य पद त्रय गुण-रहित और सच्चिदानन्दमय है और अपरा प्रकृति वा जड़ात्मक प्रकृति त्रय गुणमयी है।

(१३) त्रयगुण के सम्मिश्रण-रूप (सम-मिश्रण-रूप) को जड़ात्मक मूल प्रकृति कहते हैं ।

(१४) परम प्रभु सर्वेश्वर व्याप्य अर्थात् समस्त प्रकृति-मण्डल में व्यापक हैं; परन्तु व्याप्य को भरकर ही वे मर्यादित नहीं हो जाते हैं। वे व्याप्य के बाहर और कितने अधिक हैं, इसकी कल्पना भी नहीं हो सकती; क्योंकि वे अनन्त हैं।

(१५) परम प्रभु सर्वेश्वर अंशी हैं और (सच्चिदानन्द ब्रह्म, ॐ ब्रह्म और पूर्ण ब्रह्म, अगुण एवं सगुण आदि) ब्रह्म, ईश्वर तथा जीव, उसके अटूट अंश हैं; जैसे मठाकाश, घटाकाश और पटाकाश महदाकाश के अटूट अंश हैं।

(१६) प्रकृति के भेद-रूप सारे व्याप्यों के पार में, सारे नाम-रूपों के पार में और वर्णात्मक, ध्वन्यात्मक, आहत, अनाहत आदि सब शब्दों के परे आच्छादन-विहीन शान्ति का पद है, वही परम प्रभु सर्वेश्वर का जड़ातीत, चैतन्यातीत निज अचिन्त्य स्वरूप है, और उसका यही स्वरूप सारे आच्छादनों में भी अंश-रूपों में व्यापक है, जहाँ आच्छादनों के भेदों के अनुसार परम प्रभु के अंशों के ब्रह्म और जीवादि नाम हैं। अंश और अंशी, तत्त्व-रूप में निश्चय ही एक हैं; परन्तु अणुता और विभुता का भेद उनमें अवश्य है, जो आच्छादनों के नहीं रहने पर नहीं रहेगा।

(१७) परम प्रभु के निज स्वरूप को ही आत्मा वा आत्मतत्त्व कहते हैं; और इस तत्त्व के अतिरिक्त सभी अनात्मतत्त्व हैं।

(१८) आत्मा सब शरीरों में शरीरी वा सब देहों में देही वा सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ है ।

(१९) शरीर वा देह वा क्षेत्र, इसके सब विकार और इसके बाहर और अन्तर के सब स्थूल-सूक्ष्म अंग-प्रत्यंग अनात्मा हैं।

(२०) परा प्रकृति, अपरा प्रकृति और इनसे बने हुए सब नाम-रूप-पिण्ड, ब्रह्माण्ड, स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण

और कैवल्य (जड़-रहित चेतन वा निर्मल चेतन); सब-के-सब अनात्मा हैं।

(२१) अनात्मा के पसार को आच्छादन-मण्डल कहते हैं।

(२२) आच्छादन-मण्डलों के केवल पार ही में परम प्रभु सर्वेश्वर के निज स्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। जड़ात्मक आच्छादन-मण्डल चार रूपों में है। वे स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण कहलाते हैं। कारण की खानि को महाकारण कहते हैं।

(२३) परम प्रभु सर्वेश्वर के निज स्वरूप की प्राप्ति के बिना परम कल्याण नहीं हो सकता है ।

(२४) आँखों पर रंगीन चश्मा लगा रहने के कारण बाहर के सब दृश्य चश्मे के रंग के अनुरूप रंगवाले दीखते हैं। इसी तरह जड़ात्मक अनात्म आच्छादनों से आच्छादित रहने के कारण जीव को आच्छादन-तत्त्व का ज्ञान होता है, उससे भिन्न तत्त्व का नहीं।

(२५) कोई भी सगुण (रज, तम और सत्त्व से युक्त) और साकार रूप अनादि, अनन्त, मूलतत्त्व वा परम प्रभु सर्वेश्वर के सम्पूर्ण स्वरूप का रूप नहीं हो सकता है।

(२६) गन्ध, स्पर्श, रस और त्रय गुण मण्डल के ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक शब्द सगुण निराकार कहे जा सकते हैं। इनके विशाल-से-विशाल मण्डल से भी परम प्रभु सर्वेश्वर के सम्पूर्ण स्वरूप का आच्छादन नहीं हो सकता है।

(२७) निर्मल चेतन और उसके केन्द्र से उत्थित आदिनाद वा आदिध्वनि वा आदिशब्द त्रय गुण-रहित वा निर्गुण निराकार कहे जा सकते हैं; इनसे अर्थात् निर्गुण से भी परम प्रभु सर्वेश्वर पूर्णरूप से आच्छादित होने योग्य नहीं हैं; क्योंकि अनन्त को अपने घेरे के अन्दर ला सके, ऐसी किसी

चीज को मानना बुद्धि-विपरीत और अयुक्त है ।

(२८) जड़ात्मक सगुण प्रकृति वा अपरा प्रकृति नाना रूपों में रूपान्तरित होती रहती है। इसलिए इसे क्षर और असत् कहते हैं।

(२९) चेतनात्मक निर्गुण प्रकृति वा परा प्रकृति रूपान्तरित नहीं होती है, इसीलिए इसको अक्षर और सत् कहते हैं। परम प्रभु सर्वेश्वर सत् और असत् तथा क्षर और अक्षर से परे हैं।

(३०) परम प्रभु सर्वेश्वर में सृष्टि की मौज वा कम्प हुए बिना सृष्टि नहीं होती है।

(३१) मौज वा कम्प शब्द-सहित अवश्य होता है; क्योंकि शब्द कम्प का सहचर है। कम्प शब्दमय होता है और शब्द कम्पमय होता है।

(३२) परा और अपरा; युगल प्रकृतियों के बनने के पूर्व ही आदिनाद वा आदि ध्वन्यात्मक शब्द अवश्य प्रकट हुआ। इसी को ॐ, सत्यशब्द, सारशब्द, सत्यनाम, रामनाम, आदिशब्द और आदिनाम कहते हैं ।

(३३) कम्प और शब्द के बिना सृष्टि नहीं हो सकती। कम्प और शब्द सब सृष्टियों में अनिवार्य रूप से अवश्य ही व्यापक हैं।

(३४) आदिशब्द सम्पूर्ण सृष्टि के अन्तस्तल में सदा अनिवार्य, अविच्छिन्न और अव्याहत रूप से अवश्य ही ध्वनित होता है; यह अत्यन्त निश्चित है। यह शब्द सृष्टि का साराधार, सर्वव्यापी और सत्य है।

(३५) अव्यक्त से व्यक्त हुआ है अर्थात् सूक्ष्मता से स्थूलता हुई है। सूक्ष्म, स्थूल में स्वाभाविक ही व्यापक होता है। अतएव आदिशब्द सर्वव्यापक है। इस शब्द में

योगीजन रमते हुए परम प्रभु सर्वेश्वर तक पहुँचते हैं अर्थात् इस शब्द के द्वारा परम प्रभु सर्वेश्वर का अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान होता है। इसलिए इस शब्द को परम प्रभु का नाम-'रामनाम' कहते हैं। यह सबमें सार रूप से है तथा अपरिवर्तनशील भी है। इसीलिए इसको सारशब्द, सत्यशब्द और सत्यनाम भारती सन्तवाणी में कहा है, और उपनिषदों में ऋषियों ने इसको ॐ कहा है। इसीलिए यह आदिशब्द संसार में ॐ कहकर विख्यात है ।

(३६) शब्द का स्वाभाविक गुण है कि वह अपने केन्द्र पर सुरत को आकर्षित करता है, केन्द्र के गुण को साथ लिए रहता है और अपने में ध्यान लगानेवाले को अपने गुण से युक्त कर देता है।

(३७) सृष्टि के दो बड़े मण्डल हैं—परा प्रकृति मण्डल वा सच्चिदानन्द पद वा कैवल्य पद वा निर्मल चेतन (जड़-विहीन चेतन) मण्डल और अपरा प्रकृति वा जड़ात्मक प्रकृति मण्डल।

(३८) जड़ात्मक वा अपरा प्रकृति चार मण्डलों में विभक्त है—महाकारण, कारण, सूक्ष्म और स्थूल। इस प्रकृति का मूल स्वरूप (रज, तम और सत्त्व) त्रय गुणों का सम्मिश्रण रूप है; अपने इस रूप में यह प्रकृति साम्यावस्थाधारिणी है। इसके इस रूप को महाकारण कहना चाहिये। इसके इस रूप के किसी विशेष भाग में जब गुणों का उत्कर्ष होता है, तब इसका वह भाग क्षोभित होकर विकृत रूप को प्राप्त हो जाता है। इसलिए वह भाग प्रकृति नहीं कहलाकर विकृति कहलाता है और उस भाग में सम अवस्था नहीं रह जाती है; विश्व-ब्रह्माण्ड की रचना होती है और इसीलिए वह भाग विश्व-ब्रह्माण्ड का कारण-रूप है। ऐसे अनेक बह्माण्डों का कारण जड़ात्मक

मूल प्रकृति में है, इसलिए यह प्रकृति अपने मूल रूप में कारण की खानि भी कही जा सकती है। कारण-रूप से सृष्टि का प्रवाह जब और नीच की ओर प्रवाहित होता है, तब वह सूक्ष्म कहलाता है और सूक्ष्म रूप से और नीच की ओर उतरकर स्थूलता को प्राप्त हो वह स्थूल कहलाता है। इसी तरह जड़ात्मक प्रकृति के चार मण्डल बनते हैं।

(३९) परा प्रकृति-मण्डल के सहित जड़ात्मक प्रकृति के चारो मण्डलों को जोड़ने से सम्पूर्ण सृष्टि में पाँच मण्डल-कैवल्य, महाकारण, कारण, सूक्ष्म और स्थूल हैं।

(४०) संख्या ३९ में लिखित पाँच मण्डलों से जैसे विश्व-ब्रह्माण्ड (बाह्य जगत्) भरपूर है, वैसे ही इन पाँचो मण्डलों से पिण्ड (शरीर) भी भरपूर है। जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं में की अपनी स्थितियों को विचारने पर प्रत्यक्ष ज्ञात होता है कि पिंड के जिस मण्डल में जब जो रहता है, वा इसके जिस मण्डल को जब जो छोड़ता है, ब्रह्माण्ड के भी उसी मण्डल में वह तब रहता है वा ब्रह्माण्ड के भी उसी मण्डल को वह तब छोड़ता है। इसलिए पिण्ड के सब मण्डलों को जो सुरत वा चेतन-वृत्ति पार करेगी, तो बाह्य सृष्टि के भी सब मण्डलों को वह पार कर जाएगी ।

(४१) किसी भी मण्डल का बनना तबतक असम्भव है, जबतक उसका केन्द्र स्थापित न हो ।

(४२) संख्या ३९ में सृष्टि के कथित पाँच मण्डलों के पाँच केन्द्र अवश्य हैं।

(४३) कैवल्य मण्डल का केन्द्र स्वयं परम प्रभु सर्वेश्वर हैं। महाकारण का केन्द्र कैवल्य और महाकारण की सन्धि है, कारण का केन्द्र महाकारण और कारण की सन्धि है, सूक्ष्म का केन्द्र कारण और सूक्ष्म की सन्धि है और स्थूल

का केन्द्र सूक्ष्म और स्थूल की सन्धि है ।

(४४) केन्द्र से जब सृष्टि के लिए कम्प की धार प्रवाहित होती है, तभी सृष्टि होती है और प्रवाह का सहचर शब्द अवश्य होता है; अतएव संख्या ३९ में कथित पाँचो मण्डलों के केन्द्रों से उत्थित केन्द्रीय शब्द अवश्य हैं। कथित पाँचो मण्डलों के केन्द्रीय ध्वन्यात्मक सब शब्दों के मुँह वा प्रवाह—ओर ऊपर से नीचे को है। इनमें से प्रत्येक, सुरत को अपने-अपने उद्गम-स्थान पर आकर्षण करने का गुण रखता है। सार-शब्द वा निर्मायिक शब्द परम प्रभु सर्वेश्वर तक आकर्षण करने का गुण रखता है और वर्णित दूसरे-दूसरे शब्द, जिन्हें मायावी कह सकते हैं, अपने से ऊँचे दर्जे के शब्दों से, ध्यान लगानेवाले को मिलाते हैं। इनका सहारा लिए बिना सारशब्द का पाना असम्भव है। यदि कहा जाय कि सारशब्द मालिक के बुलाने का पैगाम देता है, तो उसके साथ ही यही कहना उचित है कि इसके अतिरिक्त दूसरे सभी केन्द्रीय शब्दों में से प्रत्येक शब्द अपने से ऊँचे दर्जे के शब्दों को पकड़ा देता है ।

(४५) ऊपर का शब्द नीचे दूर तक पहुँचता है और सूक्ष्म अपने से स्थूल में स्वाभाविक ही व्यापक होता है तथा सूक्ष्म धार, स्थूल धार से लम्बी होती है। इन कारणों से प्रत्येक निचले मण्डल के केन्द्र पर से उसके ऊपर के मण्डल के केन्द्रीय शब्द का ग्रहण होना अंकगणित के हिसाब के सदृश ध्रुव निश्चित है। ऊपर कथित शब्दों के अभ्यास से सुरत का नीचे गिरना नहीं हो सकता है।

(४६) उपनिषदों में और भारती सन्तवाणी में नादानुसंधान वा सुरत-शब्द-योग करने की विधि इसी हेतु से है कि संख्या ४५ में वर्णित केन्द्रीय शब्दों को ग्रहण करते हुए और शब्द के

आकर्षण से खिंचते हुए सृष्टि के सब मण्डलों को पार कर सर्वेश्वर को प्रत्यक्ष पाया जाए।

(४७) प्रकृति को भी अनाद्या कहा गया है, सो इसलिए नहीं कि परम प्रभु सर्वेश्वर की तरह यह भी उत्पत्तिहीन है; परन्तु इसलिए कि इसकी उत्पत्ति के काल और स्थान नहीं हैं; क्योंकि इसके प्रथम नहीं; परन्तु इसके होने पर ही काल और स्थान वा देश बन सकते हैं। यह परम प्रभु के मौज से परम प्रभु में ही प्रकट हुई, अतएव परम प्रभु में ही इसका आदि है और परम प्रभु देश-कालातीत हैं और वे अनादि के भी आदि कहलाते हैं। प्रकृति को अनादि सान्त भी कहते हैं।

(४८) पिण्ड अर्थात् शरीर को क्षेत्र और आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं ।

(४९) स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण; ये चारो क्षेत्र वा शरीर जड़ हैं। इनसे आवरणित रहने पर परम प्रभु सर्वेश्वर का वा निज आत्मस्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है।

(५०) कैवल्य शरीर वा क्षेत्र चेतन है। यह परम प्रभु सर्वेश्वर का अत्यन्त निकटवर्ती है अर्थात् इसके परे सर्वेश्वर के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है। इसके सहित रहने पर परम प्रभु सर्वेश्वर के तथा निज आत्मस्वरूप के अपरोक्ष ज्ञान का होना परम सम्भव है; और आत्मा को अपना और परम प्रभु सर्वेश्वर का अपरोक्ष ज्ञान हो, इसमें संशय करने का कारण ही नहीं है।

(५१) स्थूल के फैलाव से सूक्ष्म का फैलाव अधिक होता है। अनादि-अनन्तस्वरूपी से बढ़कर अधिक फैलाव और किसी का होना असम्भव है। इसलिए यह सबसे अधिक सूक्ष्म है। स्थूल यन्त्र से सूक्ष्म तत्त्व का ग्रहण नहीं हो सकता

है। बाहर की और भीतर की सब इन्द्रियाँ (हाथ, पैर, मुँह, लिंग, गुदा; ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और आँख, कान, नाक, चमड़ा, जीभ; ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ बाहर की इन्द्रियाँ हैं। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार; ये चार भीतर की इन्द्रियाँ हैं।), जिनके द्वारा बाहर वा भीतर में कुछ किया जा सकता है, उस अनादि-अनन्तस्वरूपी परम प्रभु सर्वेश्वर से स्थूल और अत्यन्त स्थूल हैं; इनसे वे ग्रहण होने योग्य कदापि नहीं। इन्द्रिय-मण्डल तथा जड़ प्रकृति-मण्डल में रहते हुए उनको प्रत्यक्ष रूप से जानना सम्भव नहीं है। अतएव अपने को इनसे आगे पहुँचाकर उनको प्रत्यक्ष पाना होगा। इस कारण परम प्रभु सर्वेश्वर को प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त करने के लिए अपने शरीर के बाहर का कोई साधन करना व्यर्थ है। बाहरी साधन से जड़ात्मक आवरणों वा शरीरों को पार कर कैवल्य दशा को प्राप्त करना अत्यन्त असम्भव है और शरीर के अंतर-ही-अंतर चलने से आवरणों का पार करना पूर्ण सम्भव है। इसके लिए जाग्रत और स्वप्न-अवस्थाओं की स्थितियाँ प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। यह कहना कि परम प्रभु सर्वेश्वर सर्वव्यापक हैं, अतः वे सदा प्राप्त ही हैं, उनको प्राप्त करने के लिए बाहर वा अंतर यात्रा करनी अयुक्त है, और यह भी कहना कि परम प्रभु सर्वेश्वर अपनी किरणों से सर्वव्यापक हैं, पर अपने निज स्वरूप से एकदेशीय ही हैं, इसलिए उन तक यात्रा करनी है; ये दोनों ही कथन ऊपर वर्णित कारणों से अयुक्त और व्यर्थ हैं। एक को तो प्रत्यक्ष प्राप्त नहीं है, वह मन-मोदक से भूख बुझाता है और दूसरा यह नहीं ख्याल करता कि एकदेशीय वा परिमित स्वरूपवाले की किरणों का मण्डल भी परिमित ही होगा। वह किसी भी तरह अनादि-अनन्तस्वरूपी नहीं हो सकता। एक अनादि-अनन्तस्वरूपी

की स्थिति अवश्य है, यह बुद्धि में अत्यन्त थिर है। अपरिमित पर परिमित शासन करे, यह सम्भव नहीं। परम प्रभु सर्वेश्वर को अनादि- अनन्तस्वरूपी वा अपरिमित ही अवश्य मानना पड़ेगा। उनको अपरोक्षरूप से प्राप्त करने के लिए क्यों अंतर में यात्रा करनी है, इसका वर्णन ऊपर हो चुका है।

(५२) अंतर में आवरणों से छूटते हुए चलना परम प्रभु सर्वेश्वर से मिलने के लिए चलना है। यह काम परम प्रभु सर्वेश्वर की निज भक्ति है या यह पूर्ण आत्मज्ञान प्राप्त करने का अव्यर्थ साधन है। इस अन्तर के साधन को आन्तरिक सत्संग भी कहते हैं।

(५३) ऊपर कही गई बातों के साथ भक्ति के विषय की अन्य बातों के श्रवण और मनन की अत्यन्त आवश्यकता है, अतएव इसके लिए बाहर में सत्संग करना परम आवश्यक है।

(५४) अन्तर साधन की युक्ति और साधन में सहायता सद्गुरु की सेवा करके प्राप्त करनी चाहिये और उनकी बतायी हुई युक्ति से नित्य एवं नियमित रूप से अभ्यास करना परम आवश्यक है।

(५५) जाग्रत से स्वप्न-अवस्था में जाने में अन्तर-ही-अन्तर स्वाभाविक चाल होती है और इस चाल के समय मन की चिन्ताएँ छूटती हैं तथा विचित्र चैन-सा मालूम होता है। अतएव चिन्ता को त्यागने से अर्थात् मन को एकाग्र करने से वा मन को एकविन्दुता प्राप्त होने से अन्तर-ही-अन्तर चलना तथा विचित्र चैन का मिलना पूर्ण सम्भव है ।

है कुछ रहनि गहनि की बाता। बैठा रहे चला पुनि जाता।।

(कबीर साहब)

बैठे ने रास्ता काटा। चलते ने बाट न पाई।।

(राधास्वामी साहब)

(५६) किसी चीज का किसी ओर से सिमटाव होने पर उसकी गति उस ओर की विपरीत ओर को स्वाभाविक ही हो जाती है। स्थूल मण्डल से मन का सिमटाव होकर जब मन एकविन्दुता प्राप्त करेगा, तब स्थूल मण्डल के विपरीत सूक्ष्म मण्डल में उसकी गति अवश्य हो जाएगी।

(५७) दूध में घी की तरह मन में चेतनवृत्ति वा सुरत है। मन के चलने से सुरत भी चलेगी। मन सूक्ष्म जड़ है। वह जड़ात्मक कारण मण्डल से ऊपर नहीं जा सकता। यहाँ तक ही मन के संग सुरत का चलना हो सकता है। इसके आगे मन का संग छोड़कर सुरत की गति हो सकेगी; क्योंकि जड़ात्मक मूल प्रकृति-मण्डल के ऊपर में इसका निज मण्डल है, जहाँ से यह आयी है।

(५८) संख्या ३५ में सर्वेश्वर के ध्वन्यात्मक नाम का वर्णन हुआ है। ध्वन्यात्मक अनाहत आदिशब्द परम प्रभु सर्वेश्वर का निज नाम वा जाति नाम वा उनके स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान करा देनेवाला नाम है और जिन वर्णात्मक शब्दों से इस ध्वन्यात्मक नाम को और परम प्रभु सर्वेश्वर को लोग पुकारते हैं, उन सब वर्णात्मक शब्दों से उपर्युक्त ध्वन्यात्मक नाम का तथा परम प्रभु सर्वेश्वर का गुण-वर्णन होता है। इसलिए उन वर्णात्मक शब्दों को परम प्रभु सर्वेश्वर का सिफाती व गुण-प्रकटकारी वा गुण-प्रकाशक नाम कहते हैं। इन नामों से परम प्रभु सर्वेश्वर की तथा उनके निज नाम की स्थिति और केवल गुण व्यक्त होते हैं; परन्तु उनका अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता है।

(५९) सृष्टि के जिस मण्डल में जो रहता है, उसके लिए प्रथम उसी मण्डल के तत्त्व का अवलम्ब ग्रहण कर सकना स्वभावानुकूल होता है। स्थूल मण्डल के निवासियों को

प्रथम स्थूल का ही अवलम्ब लेना स्वभावानुकूल होने के कारण सरल होगा। अतएव मन के सिमटाव के लिए प्रथम परम प्रभु सर्वेश्वर के किसी वर्णात्मक नाम के मानस जप का तथा परम प्रभु सर्वेश्वर के किसी उत्तम स्थूल विभूति-रूप के मानस-ध्यान का अवलम्ब लेकर मन के सिमटाव का अभ्यास करना चाहिए। परम प्रभु सर्वेश्वर सारे प्रकृति-मण्डल और विश्व-ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत-व्यापक हैं। सृष्टि के सब तेजवान, विभूतिवान और उत्तम धर्मवान उनकी विभूतियाँ हैं। उपर्युक्त अभ्यास से मन को समेट में रखने की कुछ शक्ति प्राप्त करके सूक्ष्मता में प्रवेश करने के लिए सूक्ष्म अवलम्ब को ग्रहण करने का अभ्यास करना चाहिये। सूक्ष्म अवलम्ब विन्दु है। विन्दु को ही परम प्रभु सर्वेश्वर का अणु से भी अणु रूप कहते हैं। परिमाण-शून्य, नहीं विभाजित होनेवाला चिह्न को विन्दु कहते हैं। इसको यथार्थतः बाहर में बाल की नोक से भी चिह्नित करना असम्भव है। इसलिए बाहर में कुछ अंकित करके और उसे देखकर इसका मानस ध्यान करना भी असम्भव है। इसका अभ्यास अंतर में दृष्टियोग करने से होता है। दृष्टियोग में डीम और पुतलियों को उलटाना और किसी प्रकार इनपर जोर लगाना अनावश्यक है। ऐसा करने से आँखों में रोग होते हैं। दृष्टि, देखने की शक्ति को कहते हैं। दोनों आँखों की दृष्टियों को मिलाकर मिलन-स्थल पर मन को टिकाकर देखने से एकविन्दुता प्राप्त होती है; इसको दृष्टियोग कहते हैं। इस अभ्यास से सूक्ष्म वा दिव्य दृष्टि खुल जाती है। मन की एकविन्दुता प्राप्त रहने की अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म मण्डलों के सन्धि-विन्दु वा स्थूल मण्डल के केन्द्र-विन्दु से उत्थित नाद वा अनहद ध्वन्यात्मक शब्द, सुरत को ग्रहण होना पूर्ण सम्भव है; क्योंकि सूक्ष्मता में स्थिति रहने के कारण सूक्ष्म

नाद का ग्रहण होना असम्भव नहीं है। शब्द में अपने उद्‌गम-स्थान पर सुरत को आकर्षण करने का गुण रहने के कारण, इस शब्द के मिल जाने पर शब्द-से-शब्द में सुरत खिंचती हुई चलती-चलती शब्दातीत पद (परम प्रभु सर्वेश्वर) तक पहुँच जाएगी। इसके लिए सद्‌गुरु की सेवा, उनके सत्संग, उनकी कृपा और अतिशय ध्यानाभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है।

(६०) दृष्टियोग बिना ही शब्दयोग करने की विधि यद्यपि उपनिषदों और भारती सन्तवाणी में नहीं है, तथापि सम्भव है कि बिना दृष्टियेाग के ही यदि कोई सुरत-शब्द-योग का अत्यन्त अभ्यास करे, तो कभी-न-कभी स्थूल मण्डल का केन्द्रीय शब्द उससे पकड़ा जा सके और तब उस अभ्यासी के आगे का काम यथोचित होने लगे। इसका कारण यह है कि अन्तर के शब्द में ध्यान लगाने से यही ज्ञात होता है कि सुनने में आनेवाले सब शब्द ऊपर की ही ओर से आ रहे हैं, नीचे की ओर नहीं और वह केन्द्रीय शब्द भी ऊपर की ही ओर से प्रवाहित होता है। शब्द-ध्यान करने से मन की चंचलता अवश्य छूटती है। मन की चंचलता दूर होने पर मन सूक्ष्मता में प्रवेश करता है। सूक्ष्मता में प्रवेश किया हुआ मन उस केन्द्रीय सूक्ष्म नाद को ग्रहण करे, यह आश्चर्य नहीं; परन्तु उपनिषदों की और भारती सन्तवाणी की विधि को ही विशेष उत्तम जानना चाहिये। शब्द की डगर पर चढ़े हुए की दुर्गति और अधोगति असम्भव है। झूठ, चोरी, नशा, हिंसा तथा व्यभिचार; इन पापों से नहीं बचनेवाले को वर्णित साधनाओं में सफलता प्राप्त करना भी असम्भव ही है। नीचे के मण्डलों के शब्दों को धारण करते हुए तथा उनसे आगे बढ़ते हुए अन्त में आदिनाद वा आदिशब्द या सारशब्द का प्राप्त करना, पुनः उसके आकर्षण से उसके केन्द्र में पहुँचकर शब्दातीत पद

के पाने की विधि ही उपनिषदों और भारती सन्तवाणी से जानने में आती है तथा यह विधि युक्ति-युक्त भी है, इसलिए इससे अन्य विधि शब्दातीत अर्थात् अनाम पद तक पहुँचने की कोई और हो सकती है, मानने-योग्य नहीं है और अनाम तक पहुँचे बिना परम कल्याण नहीं।

(६१) वर्णित साधनों से यह जानने में साफ-साफ आ जाता है कि पहले स्थूल सगुण रूप की उपासना की विधि हुई, फिर सूक्ष्म सगुण रूप की उपासना की विधि हुई, फिर सूक्ष्म सगुण अरूप की उपासना की विधि और अन्त में निर्गुण-निराकार की उपासना की विधि हुई।

(६२) मानस जप और मानस ध्यान स्थूल सगुण रूप-उपासना है, एकविन्दुता वा अणु से भी अणुरूप प्राप्त करने का अभ्यास सूक्ष्म सगुण रूप-उपासना है, सारशब्द के अतिरिक्त दूसरे सब अनहद नादों का ध्यान सूक्ष्म, कारण और महाकारण सगुण अरूप-उपासना है और सारशब्द का ध्यान निर्गुण निराकार-उपासना है। सभी उपासनाओं की यहाँ समाप्ति है। उपासनाओं को सम्पूर्णतः समाप्त किये बिना शब्दातीत पद (अनाम) तक अर्थात् परम प्रभु सर्वेश्वर तक की पहुँच प्राप्त कर परम मोक्ष का प्राप्त करना अर्थात् अपना परम कल्याण बनाना पूर्ण असम्भव है।

(६३) निःशब्द अथवा अनाम से शब्द अथवा नाम की उत्पत्ति हुई है, इसके अर्थात् नाम के ग्रहण से इसके आकर्षण में पड़कर, इससे आकर्षित हो निःशब्द वा शब्दातीत वा अनाम तक पहुँचना पूर्ण सम्भव है।

(६४) अनाम के ऊपर कुछ और का मानना वा अनाम के नीचे रचना के किसी मण्डल में अशब्द की स्थिति मानना बुद्धि-विपरीत है।

(६५) उपनिषदों में शब्दातीत पद को ही परम पद कहा गया है, और श्रीमद्भगवद्गीता में क्षेत्रज्ञ कहकर जिस तत्त्व को जनाया गया है, उससे विशेष कोई और तत्त्व नहीं हो सकता है। इसलिए उपनिषदों तथा श्रीमद्भगवद्गीता में बताये हुए सर्वोच्च पद से भी और कोई विशेष पद है, ऐसा मानना व्यर्थ है। जो ऐसा नहीं समझते और नहीं विश्वास करते, उनको चाहिए कि शब्दातीत पद के नीचे रचना के किसी मण्डल में निःशब्द का होना तथा क्षेत्रज्ञ से विशेष और किसी तत्त्व की स्थिति को संसार के सामने विचार से प्रमाणित कर दें; परन्तु ऐसा कर सकना असम्भव है। विचार से सिद्ध और प्रमाणित किये बिना ऐसा कहना कि मेरे गुरु ने उपनिषदादि में वर्णित पद से ऊँचे पद को बतलाया है, ठीक नहीं; क्योंकि इस तरह दूसरे भी कहेंगे कि मैं आपसे भी ऊँचा पद जानता हूँ।

(६६) इसमें सन्देह नहीं कि केवल एक सारशब्द वा आदिशब्द ही अन्तिम पद अर्थात् शब्दातीत पद तक पहुँचाता है; परन्तु इससे यह नहीं जानना चाहिए कि इसके अतिरिक्त दूसरे सब मायिक शब्दों में के शब्दों का ध्यान करना ही नहीं चाहिये; क्योंकि ये दूसरे शब्द मायावी हैं, इनके ध्यान से अभ्यासी अत्यन्त अधोगति को प्राप्त होगा। सारशब्द के अतिरिक्त अन्य किसी भी शब्द के ध्यान की उपर्युक्त निषेधात्मक उक्ति उपनिषद् और भारती सन्तवाणी के अनुकूल नहीं है और न युक्ति-युक्त ही है, अतएव मानने-योग्य नहीं है। संख्या ४४, ४५, ४६, ५९ और ६० की वर्णित बातें इस विषय का अच्छी तरह बोध दिलाती हैं।

(६७) दृष्टि-योग से शब्द-योग आसान है। यह वर्णन हो चुका है कि एकविन्दुता प्राप्त करने तक के लिए दृष्टि-योग अवश्य होना चाहिए; परन्तु और विशेष दृष्टि-योग कर तब

शब्द-अभ्यास करने का ख्याल रखना आवश्यक है; क्योंकि इसमें विशेष काल तक कठिन मार्ग पर चलते रहना है।

(६८) एकविन्दुता प्राप्त किये हुए रहकर शब्द में सुरत लगा देना उचित है। दोनों से एक ही ओर को खिंचाव होगा। शब्द में विशेष रस प्राप्त होने के कारण पीछे विन्दु छूट जायगा और केवल शब्द-ही-शब्द में सुरत लग जायगी, तो कोई हानि नहीं, यही तो होना ही चाहिये।

(६९) केवल दृष्टि-योग से जड़ात्मक प्रकृति के किसी मण्डल के घेरे में पहुँचकर दूसरे किसी शब्द के अभ्यास का सहारा लिए बिना वहाँ ही सारशब्द के पकड़ने का ख्याल युक्ति-युक्त नहीं होने के कारण मानने-योग्य नहीं है; क्योंकि जड़ का कोई भी आवरण सार धार अर्थात् निर्मल चेतन-धार का अपरोक्ष ज्ञान होने देने में अवश्य ही बाधक है। जड़ात्मक मूल प्रकृति के बनने के पूर्व ही आदिशब्द अर्थात् सारशब्द का उदय हुआ है, इसलिए यह शब्द-रूप धार, निर्मल चेतन धार है।

(७०) विविध सुन्दर दृश्यों से सजे हुए मण्डप में मीठे सुरीले स्वर के गानों और बाजाओं को संलग्न होकर सुनते रहने पर भी मण्डप के दृश्यों का गौण रूप में भी देखना होता ही है। उसी प्रकार जड़ात्मक दृश्य-मण्डल के अंदर शब्द-ध्यान में रत होते हुए भी वहाँ के दृश्य अवश्य देखे जाएँगे। इसीलिए कहा गया है कि 'ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिः'। केवल शब्द-ध्यान भी ज्योति-मण्डल में प्रवेश करा दे, इसमें आश्चर्य नहीं। ज्योति न मिले, तो उतनी हानि नहीं, जितनी हानि कि शब्द के नहीं मिलने से।

(७१) सारशब्द अलौकिक शब्द है। परम अलौकिक से ही इसका उदय है। विश्व-ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड आदि की रचना के पूर्व ही इसका उदय हुआ है। इसलिए वर्णात्मक

शब्द, जो पिण्ड के बिना हो नहीं सकता अर्थात् मनुष्य-पिण्ड ही जिसके बनने का कारण है वा यों भी कहा जा सकता है कि लौकिक वस्तु ही जिसके बनने का कारण है, उसमें सारशब्द की नकल हो सके, कदापि सम्भव नहीं है। सारशब्द को जिन सब वर्णात्मक शब्दों के द्वारा जनाया जाता है, उन शब्दों को बोलने से जैसी-जैसी आवाजें सुनने में आती हैं, सारशब्द उनमें से किसी की भी तरह सुनने में लगे, यह भी कदापि सम्भव नहीं है। राधास्वामीजी के ये दोहे हैं कि–

अल्लाहू त्रिकुटी लखा, जाय लखा हा सुन्न।
शब्द अनाहू पाइया, भँवर गुफा की धुन्न ।।
हक्क हक्क सतनाम धुन, पाई चढ़ सच खण्ड।
सन्त फकर बोली युगल, पद दोउ एक अखण्ड ।।

राधास्वामी-मत में त्रिकुटी का शब्द 'ओं,' सुन्न का 'ररं' भँवर गुफा का 'सोहं' और सतलोक अर्थात् सच-खण्ड का 'सतनाम' मानते हैं; और उपर्युक्त दोहों में राधास्वामीजी बताते हैं कि फकर अर्थात् मुसलमान फकीर त्रिकुटी का शब्द 'अल्लाहू,' सुन्न का 'हा', भँवर गुफा का 'अनाहू' और सतलोक का 'हक्क' 'हक्क' मानते हैं। उपर्युक्त दोहों के अर्थ को समझने पर यह अवश्य जानने में आता है कि सारशब्द की तो बात ही क्या, उसके नीचे के शब्दों की भी ठीक-ठीक नकल मनुष्य की भाषा में हो नहीं सकती। एक सतलोक वा सचखण्ड के शब्द को 'सतनाम' कहता है और दूसरा उसी को 'हक्क-हक्क' कहता है, और पहला व्यक्ति दूसरे के कहे को ठीक मानता है, तो उसको यह अवसर नहीं है कि तीसरा जो उसी को 'ओं' वा राम कहता है, उससे वह कहे कि 'ओं' और 'राम' नीचे दर्जे के शब्द हैं, सतलोक के नहीं। अतएव किसी एक वर्णात्मक शब्द को यह कहना कि यही खास शब्द

सारशब्द की ठीक-ठीक नकल है, अत्यन्त अयुक्त है और विश्वास करने योग्य नहीं है।

(७२) बीन, वेणु (मुरली), नफीरी, मृदंग, मर्दल, नगाड़ा, मजीरा, सिंगी, सितार, सारंगी, बादल की गरज और सिंह का गर्जन इत्यादि स्थूल लौकिक शब्दों में से कई-कई शब्दों का, अन्तर के एक-एक स्थान में वर्णन किसी-किसी संतवाणी में पाया जाता है। ये सबमें एक ही तरह वर्णन किये हुए नहीं पाये जाते हैं। जैसे एक संत की वाणी में मुरली का शब्द नीचे के स्थान में वर्णन है, तो दूसरे संत की वाणी में यही शब्द ऊँचे के स्थान में वर्णन किया हुआ मिलता है; जैसे–

भँवर गुफा में सोहं राजे, मुरली अधिक बजाया है।

(कबीर-शब्दावली, भाग २)

'गगन द्वार दीसै एक तारा। अनहद नाद सुनै झनकारा ।।' के नीचे की आठ चौपाइयों के बाद और–**'जैसे मन्दिर दीपक बारा। ऐसे जोति होत उजियारा ।।'** के ऊपर की तीन चौपाइयों के ऊपर में अर्थात् दीपक-ज्योति के स्थान के प्रथम ही और तारा, बिजली और उससे अधिक-अधिक प्रकाश के और आगे पाँच तत्त्व के रंग के स्थान पर ही यानी आज्ञा-चक्र के प्रकाश-भाग के ऊपर की सीमा में ही वा सहस्त्रदलकमल की निचली सीमा के पास के स्थान पर ही–**'स्याही सुरख सफेदी होई। जरद जाति जंगाली सोई ।। तल्ली ताल तरंग बखानी। मोहन मुरली बजै सुहानी।'** (घटरामायण)

ऐसे वर्णन को पढ़कर किसी संतवाणी को भूल वा गलत कहना ठीक नहीं है और इसीलिए यह भी कहना ठीक नहीं है कि सब सन्तों का 'एक मत' नहीं है तथा और अधिक यह कहना अत्यन्त अनिष्टकर है कि जब सन्तों की वाणियों में इन शब्दों की निसबत इस तरह बे-मेल है, तो सार-शब्द के

अतिरिक्त इन मायावी शब्दों का अभ्यास करना ही नहीं चाहिये। वृक्ष के सब विस्तार की स्थिति उसके अंकुर में और अंकुर की स्थिति उसके बीज में अवश्य ही है, इसी तरह स्थूल जगत् के सारे प्रसार की स्थिति सूक्ष्म जगत् में और सूक्ष्म जगत् के सब प्रसार की स्थिति कारण में मानना ही पड़ता है। स्थूल मण्डल की ध्वनियों की स्थिति सूक्ष्म में और सूक्ष्म की कारण में है; ऐसा विश्वास करना युक्तियुक्त है। अतएव मुरली-ध्वनि वा कोई ध्वनि नीचे के स्थानों में भी और वे ही ध्वनियाँ ऊपर के स्थानों में भी जानी जायँ, असम्भव नहीं है। एक ने एक स्थान के मुरली-नाद का वर्णन किया, तो दूसरे ने उसी स्थान के किसी दूसरे नाद का वर्णन किया, इसमें कुछ भी हर्ज नहीं। शब्द-अभ्यास करके ही दोनों पहुँचे उसी एक स्थान पर, ऐसा मानना कोई हर्ज नहीं। इस तरह समझ लेने पर न किसी सन्त की शब्द-वर्णन-विषयक वाणी गलत कही जा सकती है और न यह कहा जा सकता है कि दोनों का मत पृथक्-पृथक् है और तीसरी बात यह है कि केवल सार-शब्द का ही ध्यान करना और उसके नीचे के मायावी शब्दों का नहीं, बिल्कुल असम्भव है; क्योंकि यह बात न युक्तियुक्त है और न किसी सन्तवाणी के अनुकूल है। नीचे के मायावी शब्दों के अभ्यास-बिना सारशब्द का ग्रहण कदापि नहीं होगा; इसपर संख्या ६६ में लिखा जा चुका है।

(७३) मृदंग, मृदल और मुरली आदि की मायिक ध्वनियों में-से किसी को अन्तर के किसी एक ही स्थान की निज ध्वनि नहीं मानी जा सकती है। इसलिए उपनिषदों में और दो-एक के अतिरिक्त सब भारती सन्तवाणी में भी अन्तर में मिलनेवाली केवल ध्वनियों के नाम पाये जाते हैं; परन्तु यह नहीं पाया जाता है कि अन्तर के अमुक स्थान की अमुक-अमुक निज ध्वनियाँ हैं और साथ-ही-साथ शब्दातीत पद का वर्णन उन

सबमें अवश्य ही है। इस प्रकार के वर्णन को पढ़कर यह कह देना कि वर्णन करनेवाले को नादानुसन्धान (सुरत-शब्द- योग) का पूरा पता नहीं था, अयुक्त है और नहीं मानने-योग्य है।

(७४) स्थूल मण्डल का एक शब्द जितना मीठा और सुरीला होगा, सूक्ष्म मण्डल का वही शब्द उससे विशेष मीठा और सुरीला होगा; इसी तरह कारण और महाकारण मण्डलों में (जहाँ तक शब्द में विविधता हो सकती है) उस शब्द की मिठास और सुरीलापन उत्तरोत्तर अधिक होंगे। कैवल्य पद में शब्द की विविधता नहीं मानी जा सकती है। उसमें केवल एक ही निरुपाधिक आदिशब्द मानना युक्तियुक्त है; क्योंकि कैवल्य में विविधता असम्भव है।

(७५) शब्दातीत पद का मानना तथा इस पद तक पहुँचने के हेतु वर्णात्मक शब्द का जप, मानस-ध्यान, दृष्टियोग और नादानुसंधान; इन चारो प्रकार के साधनों का मानना संतवाणियों में मिलता है। अतएव सन्तमत में वर्णित चारो युक्तियुक्त साधनों की विधि अवश्य ही माननी पड़ती है।

(७६) नादानुसंधान में पूर्णता के बिना परम प्रभु सर्वेश्वर का मिलना वा पूर्ण आत्मज्ञान होना असम्भव है।

(७७) बिना गुरु-भक्ति के सुरत-शब्द-योग द्वारा परम प्रभु सर्वेश्वर की भक्ति में पूर्ण होकर अपना परम कल्याण बना लेना असम्भव है।

कबीर पूरे गुरु बिना, पूरा शिष्य न होय।
गुरु लोभी शिष लालची, दूनी दाझन होय।।

(कबीर साहब)

(७८) जब कभी पूरे और सच्चे सद्गुरु मिलेंगे, तभी उनके सहारे अपना परम कल्याण बनाने का काम समाप्त होगा।

(७९) पूरे और सच्चे सद्गुरु का मिलना परम प्रभु सर्वेश्वर के मिलने के तुल्य ही है।

(८०) जीवन-काल में जिनकी सुरत सारे आवरणों को पार कर शब्दातीत पद में समाधि-समय लीन होती है और पिंड में बरतने के समय उन्मुनी रहनी में रहकर सारशब्द में लगी रहती है, ऐसे जीवन-मुक्त परम सन्त पुरुष पूरे और सच्चे सद्गुरु कहे जाते हैं ।

(८१) परम प्रभु सर्वेश्वर को पाने की विद्या के अतिरिक्त जितनी विद्याएँ हैं, उन सबसे उतना लाभ नहीं, जितना की परम प्रभु के मिलने से। परम प्रभु से मिलने की शिक्षा की थोड़ी-सी बात के तुल्य लाभदायक दूसरी-दूसरी शिक्षाओं की अनेकानेक बातें (लाभदायक) नहीं हो सकती हैं। इसलिए इस विद्या के सिखलानेवाले गुरु से बढ़कर उपकारी दूसरे कोई गुरु नहीं हो सकते और इसीलिए किसी दूसरे गुरु का दर्जा, इनके दर्जे के तुल्य नहीं हो सकता है। केवल आधिभौतिक विद्या के प्रकाण्ड से भी प्रकाण्ड वा अत्यन्त धुरन्धर विद्वान के अन्तर के आवरण टूट गये हों, यह कोई आवश्यक बात नहीं है और न इनके पास कोई ऐसा यंत्र है, जिससे अन्तर का आवरण टूटे वा कटे; परन्तु सच्चे और पूरे सद्गुरु में ये बातें आवश्यक हैं। सच्चे और पूरे सद्गुरु का अंतर-पट टूटने की सद्युक्ति का किंचित् मात्र भी संकेत संसार की सब विद्याओं से विशेष लाभदायक है।

(८२) पूरे और सच्चे सद्गुरु की पहचान अत्यन्त दुर्लभ है। फिर भी जो शुद्धाचरण रखते हैं, जो नित्य नियमित रूप से नादानुसंधान का अभ्यास करते हैं और जो सन्तमत को अच्छी तरह समझा सकते हैं, उनमें श्रद्धा रखनी और उनको गुरु धारण करना अनुचित नहीं। दूसरे-दूसरे गुण कितने भी

अधिक हों; परन्तु यदि आचरण में शुद्धता नहीं पायी जाय, तो वह गुरु मानने योग्य नहीं। यदि ऐसे को पहले गुरु माना भी हो, तो उसका दुराचरण जान लेने पर उससे अलग रहना ही अच्छा है। उसकी जानकारी अच्छी होने पर भी आचरणहीनता के कारण उसका संग करना योग्य नहीं और गुणों की अपेक्षा गुरु के आचरण का प्रभाव शिष्यों पर अधिक पड़ता है और गुणों के सहित शुद्धाचरण का गुरु में रहना ही उसकी गरुता तथा गुरुता है, नहीं तो वह गरु (गाय, बैल) है। क्या शुद्धाचरण और क्या गुरु होने योग्य दूसरे-दूसरे गुण, किसी में भी कमी होने से वह झूठा गुरु है।

गुरु से ज्ञान जो लीजिये, शीश दीजिये दान।
बहुतक भोंदू बहि गये, राखि जीव अभिमान।।१।।
तन मन ताको दीजिये, जाके विषया नाहिं।
आपा सबही डारिके, राखै साहब माहिं।।२।।
झूठे गुरु के पक्ष को, तजत न कीजै बार।
द्वार न पावै शब्द का, भटकै बारम्बार।।३।।

(कबीर साहब)

पूरे और सच्चे सद्गुरु को गुरु धारण करने का फल तो अपार है ही; परन्तु ऐसे गुरु का मिलना अति दुर्लभ है। ज्ञानवान, शुद्धाचारी तथा सुरत-शब्द के अभ्यासी पुरुष को गुरु धारण करने से शिष्य उस गुरु के संग से धीरे-धीरे गुरु के गुणों को लाभ करे, यह सम्भव है; क्योंकि संग से रंग लगता है और शिष्य के लिए वैसे गुरु की शुभकामना भी शिष्य को कुछ-न-कुछ लाभ अवश्य पहुँचाएगी; क्योंकि एक का मनोबल दूसरे पर कुछ प्रभाव डाले, यह भी संभव ही है। ज्ञात होता है कि उपर्युक्त संख्या २ की साखी और पारा ७७ में लिखित साखी, जो यह निर्णय कर देती है कि कैसे का

शिष्य बनो और कैसे के हाथों में अपने को सौंपो, इसका रहस्य ऊपर कथित शिष्य के पक्ष में-दोनों ही बातें लाभदायक हैं। जो केवल सुरत-शब्द का अभ्यास करे; किन्तु ज्ञान और शुद्धाचरण की परवाह नहीं करे, ऐसे को गुरु धारण करना किसी तरह भला नहीं है। यदि कोई इस बात की परवाह नहीं करके किसी दुराचारी जानकार को ही गुरु धारण कर ले, तो ऊपर कथित गुरु से प्राप्त होने योग्य लाभों से वह वंचित रहेगा और केवल अपने से अपनी सँभाल करना उसके लिए अत्यन्त भीषण काम होगा। इस भीषण काम को कोई विशेष थिर बुद्धिवाला विद्वान कर भी ले, पर सर्वसाधारण के हेतु असम्भव-सा है। ये बातें प्रत्यक्ष हैं कि एक की गरमी दूसरे में समाती है तथा कोई अपने शरीर-बल से दूसरे के शरीर-बल को सहायता देकर और अपने बुद्धि-बल से दूसरे के बुद्धि-बल को सहायता देकर बढ़ा देते हैं, तब यदि कोई अपना पवित्रतापूर्ण तेज दूसरे के अन्दर देकर उसको पवित्र करे और अपने बढ़े हुए ध्यान-बल से किसी दूसरे के ध्यान-बल को जगावे और बढ़ावे, तो इसमें संशय करने का स्थान नहीं है। कल्याण-साधनांक, प्रथम-खण्ड, पृ० ४९९ में अमीर सुखरो का वचन है कि .....'सुनिये, मैंने भी उन महापुरुष जगद्गुरु भगवान श्री स्वामी रामानन्द का दर्शन किया है। अपने गुरु ख्वाजा साहब की तरफ से मैं तोहफए बेनजीर (अनुपम भेंट) लेकर पंचगंगा-घाट पर गया था। स्वामीजी ने दाद दी थी और मुझ पर जो मेहर (कृपा) हुई थी, उससे फौरन मेरे दिल की सफाई हो गई थी और खुदा का नूर झलक गया था।' मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, तृतीय ब्राह्मण में के, 'इत्युच्चरन्त्समालिंग्य शिष्यं ज्ञप्तिमनीनयत्' ॥२॥ का अँग्रेजी अनुवाद K. Narayan Swami Aiyar (के० नारायण स्वामी अय्यर) ने इस प्रकार किया है–"Saying this, he the purusha

of the sun, embraced his pupil and made him understand it." अर्थात्- 'इस प्रकार कहकर उसने (सूर्यमण्डल के पुरुष ने) अपने शिष्य को छाती से लगा लिया और उसको उस विषय का ज्ञान करा दिया।' और उसपर उन्होंने (उपर्युक्त अय्यरजी ने) पृष्ठ के नीचे में यह टिप्पणी भी लिख दी है कि "This is a reference to the secret way of emparting higher truth" अर्थात् 'उच्चतर सत्य (ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान) प्रदान करने की गुप्त विधि का यह (अर्थात् छाती से लगाना) एक संकेत है।' [Thirty minor upanishads, Page २५२–थर्टी (३०) माइनर उपनिषद्स, पृष्ठ २५२] ज्ञात होता है कि पूरे गुरु के पवित्र तेज से, उनके उत्तम ज्ञान से तथा उनके ध्यान-बल से शिष्यों को लाभ होता है। इसी बात की सत्यता के कारण बाबा देवी साहब की छपाई हुई घटरामायण में निम्नलिखित दोनों पद्यों को स्थान प्राप्त है। वे पद्य ये हैं–

मुर्शिदे कामिल से मिल सिद्क और सबूरी से तकी।
जो तुझे देगा फहम शहरग के पाने के लिये।।

अर्थात्–ऐ तकी! सच्चाई और (संसारी चीजों का लालच त्यागकर) सन्तोष धारण कर कामिल (पूरे) मुर्शिद (गुरु) से जाकर मिलो, जो तुझको शहरग (सुषुम्ना नाड़ी) पाने की समझ देगा।

यह पद्य विदित करता है कि भजन-भेद कैसे पुरुष से लेना चाहिये और दूसरा–

तुलसी बिना करम किसी मुर्शिद रसीदा के।
राहे नजात दूर है उस पार देखना।।

अर्थात्–तुलसी साहब कहते हैं कि किसी मुर्शिद रसीदा (पहुँचे हुए गुरु) के करम-बख्शिश (दया-दान) के बिना राहे नजात (मुक्ति का रास्ता) और उस पार का देखना दूर है।

यह पद्य तो साफ ही कह रहा है कि पूरे गुरु के दया-दान से ही उस पार का देखना होता है, अन्यथा नहीं। और वराहोपनिषद्, अ० २, श्लोक ७६ में है–

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ।।

अर्थात् सद्गुरु की कृपा के बिना विषय का त्याग दुर्लभ है। तत्त्वदर्शन (ब्रह्म-दर्शन) दुर्लभ है और सहजावस्था दुर्लभ है। इस प्रकार की दया का दान गुरु से प्राप्त करने के लिए उन्हें अपनी ओर आकृष्ट किया जाय, इसी में गुरु-सेवा की विशेष उपयोगिता ज्ञात होती है। भगवान बुद्ध की 'धम्मपद' नाम की पुस्तिका में गुरु-सेवा के लिए उनकी यह आज्ञा है; यथा–'मनुष्य जिससे बुद्ध का बताया हुआ धर्म सीखे, तो उसे उनकी परिश्रम से सेवा करनी चाहिये; जैसे ब्राह्मण यज्ञ-अग्नि की पूजा करता है।' (२६वाँ वचन; सं० २९२) सन्त चरणदासजी ने भी कहा है–

मेरा यह उपदेश हिये में धारियो ।
गुरु चरनन मन राखि सेव तन गारियो ।।
जो गुरु झिड़कैं लाख तो मुख नहिं मोड़ियो ।
गुरु से नेह लगाय सबन सों तोड़ियो ।।

(चरणदासजी की वाणी, भाग १, पृ० १० , अष्टपदी ४५, वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग)

और बाबा देवी साहब ने भी घटरामायण में छपाया है–

यह राह मंजिल इश्क है पर पहुँचना मुश्किल नहीं ।
मुश्किल कुशा है रोबरू, जिसने तुझे पंजा दिया ।।

अर्थात्–यह राह (मार्ग) और मंजिल (गन्तव्य स्थान) इश्क (प्रेम) है, पर पहुँचना कठिन नहीं है, मुश्किल कुशा (कठिनाई को मारनेवाला वा दूर करनेवाला) रोबरू (सामने) वह है, जिसने तुझे पंजा (भेद वा आज्ञा) दिया है।

यद्यपि संत-महात्मागण समदर्शी कहे जाते हैं, तथापि जैसे वर्षा का जल सब स्थानों पर एक तरह बरस जाने पर भी गहिरे गड्ढे में ही विशेष जमा होकर टिका रहता है, वैसे ही संत-महात्मागण की कृपावृष्टि भी सब पर एक तरह की होती है; परन्तु उनके विशेष सेवक-रूप गहिरे गड्ढे की ओर वह वेग से प्रवाहित होकर उसी में अधिक ठहरती है। संत-महात्मागण तो स्वयं सब पर सम रूप से अपनी कृपा-वृष्टि करते ही हैं, पर उनके सेवक अपनी सेवा से अपने को उनका कृपापात्र बना उनकी विशेष कृपा अपनी ओर खींच लेंगे, इसमें आश्चर्य ही क्या? एक तो देनेवाले के दान की न परवाह करता है और न वह उसे लेने का पात्र ही ठीक है, दूसरा इसकी बहुत परवाह करता है और अत्यन्त यत्न से अपने को उस दान के लेने का पात्र बनाता है, तब पहले से दूसरे को विशेष लाभ क्यों न होगा? सन्त-महात्माओं की वाणियों में गुरु-सेवा की विधि का यही रहस्य है, ऐसा जानने में आता है।

(८३) किसी से कोई विद्या सिखनेवाले को सिखलानेवाले से नम्रता से रहने का तथा उनकी प्रेम-सहित कुछ सेवा करने का ख्याल हृदय में स्वाभाविक ही उदय होता है, इसलिए गुरु-भक्ति स्वाभाविक है। गुरु-भक्ति के विरोध में कुछ कहना फजूल है। निःसन्देह अयोग्य गुरु की भक्ति को बुद्धिमान आप त्यागेंगे और दूसरे से भी इसका त्याग कराने की कोशिश करेंगे, यह भी स्वाभाविक ही है।

(८४) सत्संग, सदाचार, गुरु की सेवा और ध्यानाभ्यास; साधकों को इन चारो चीजों की अत्यन्त आवश्यकता है। संख्या ५३ में सत्संग का वर्णन है। संख्या ६० में वर्णित पंच पापों से बचने को सदाचार कहते हैं। गुरु की सेवा में उनकी आज्ञाओं का मानना मुख्य बात है और ध्यानाभ्यास के बारे में संख्या ५४, ५५,

५६, ५७ और ५९ में लिखा जा चुका है। सन्तमत में उपर्युक्त चारो चीजों के ग्रहण करने का अत्यन्त आग्रह है। इन चारो में मुख्यता गुरु-सेवा की है, जिसके सहारे उपर्युक्त बची हुई तीनों चीजें प्राप्त हो जाती हैं।

(८५) दुःखों से छूटने और परम शान्तिदायक सुख को प्राप्त करने के लिए जीवों के हृदय में स्वाभाविक प्रेरण है। इस प्रेरण के अनुकूल सुख को प्राप्त करा देने में सन्तमत की उपयोगिता है।

(८६) भिन्न-भिन्न इष्टों के माननेवाले के भिन्न-भिन्न इष्टदेव कहे जाते हैं। इन सब इष्टों के भिन्न-भिन्न नामरूप होने पर भी सबकी आत्मा अभिन्न ही है। भक्त जबतक अपने इष्ट के आत्मस्वरूप को प्राप्त न कर ले, तबतक उसकी भक्ति पूरी नहीं होती। किसी इष्टदेव के आत्मस्वरूप को प्राप्त कर लेने पर परम प्रभु सर्वेश्वर की प्राप्ति हो जाएगी, इसमें सन्देह नहीं। संख्या ८४ में वर्णित साधनों के द्वारा ही आत्म-स्वरूप की प्राप्ति होगी। प्रत्येक इष्ट के स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण, कैवल्य और शुद्ध आत्मस्वरूप हैं। जो उपासक अपने इष्ट के आत्मस्वरूप का निर्णय नहीं जानता और उसकी प्राप्ति का यत्न नहीं करता; परन्तु उसके केवल वर्णात्मक नाम और स्थूल रूप में फँसा रहता है, उसकी मुक्ति अर्थात् उसका परम कल्याण नहीं होगा।

(८७) नादानुसंधान (सुरत-शब्द-योग) लड़कपन का खेल नहीं है। इसका पूर्ण अभ्यास यम-नियम-हीन पुरुष से नहीं हो सकता है। स्थूल शरीर में उसके अन्दर के स्थूल कम्पों की ध्वनियाँ भी अवश्य ही हैं। केवल इन्हीं ध्वनियों के ध्यान को

पूर्ण नादानुसंधान जानना और इसको (नादानुसंधान को) मोक्ष-साधन में अनावश्यक बताना बुद्धिमानी नहीं है, बल्कि ऐसा जानना और ऐसा बताना योग-विषयक ज्ञान की अपने में कमी दरसाना है। यम और नियमहीन पुरुष भी नादानुसंधान में कुशल हो सकता है, ऐसा मानना सन्तवाणी-विरुद्ध है और अयुक्त भी है।

(८८) सत्य, अहिंसा, अस्तेय (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (असंग्रह) को यम कहते हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय (अध्यात्म-शास्त्र का पाठ करना) और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर में चित्त लगाना) को नियम कहते हैं।

(८९) यम और नियम का जो सार है, संख्या ६० में वर्णित पाँच पापों से बचने का और गुरु की सेवा, सत्संग और ध्यानाभ्यास करने का वही सार है।

(९०) मस्तक, गरदन और धड़ को सीधा रखकर किसी आसन से देर तक बैठने का अभ्यास करना अवश्य ही चाहिये। दृढ़ आसन से देर तक बैठे रहने के बिना ध्यानाभ्यास नहीं हो सकता है।

(९१) आँखों को बन्द करके आँख के भीतर डीम को बिना उलटाये वा उसपर कुछ भी जोर लगाये बिना, ध्यानाभ्यास करना चाहिये; परन्तु नींद से अवश्य ही बचते रहना चाहिये।

(९२) ब्रह्ममुहूर्त्त में (पिछले पहर रात), दिन में स्नान करने के बाद तुरत और सायंकाल, नित्य नियमित रूप से अवश्य ध्यानाभ्यास करना चाहिए। रात में सोने के समय लेटे-लेटे अभ्यास में मन लगाते हुए सो जाना चाहिये। काम करते समय भी मानस-जप वा मानस ध्यान करते रहना उत्तम है।

(९३) जबतक नादानुसंधान का अभ्यास करने की गुरु-आज्ञा न हो—केवल मानस जप, मानस-ध्यान और दृष्टि-योग

के अभ्यास करने की गुरु-आज्ञा हो, तबतक दो ही बंद (आँख बन्द और मुँह बन्द) लगाना चाहिये। नादानुसंधान करने की गुरु-आज्ञा मिलने पर आँख, कान और मुँह—तीनों बंद लगाना चाहिये।

(९४) केवल ध्यानाभ्यास से भी प्राण-स्पन्दन (हिलना) बंद हो जाएगा, इसके प्रत्यक्ष प्रमाण का चिह्न यह है कि किसी बात को एकचित्त होकर वा ध्यान लगाकर सोचने के समय श्वास-प्रश्वास की गति कम हो जाती है। पूरक, कुम्भक और रेचक करके प्राणायाम करने का फल प्राण-स्पन्दन को बंद करना ही है; परन्तु यह क्रिया कठिन है। प्राण का स्पन्दन बन्द होने से सुरत का पूर्ण सिमटाव होता है। सिमटाव का फल संख्या ५६ में लिखा जा चुका है। बिना प्राणायाम किये ही ध्यानाभ्यास करना सुगम साधन का अभ्यास करना है। इसके आरम्भ में प्रत्याहार का अभ्यास करना होगा अर्थात् जिस देश में मन लगाना होगा, उससे मन जितनी बार हटेगा, उतनी बार मन को लौटा-लौटाकर उसमें लगाना होगा। इस अभ्यास से स्वाभाविक ही धारणा (मन का अल्प टिकाव उस देश पर) होगी। जब धारणा देर तक होगी, वही असली ध्यान होगा और संख्या ६० में वर्णित ध्वनि-धारों का ग्रहण ध्यान में होकर अंत में समाधि प्राप्त हो जाएगी। प्रत्याहार और धारणा में मन को दृष्टियोग का सहारा रहेगा। दृष्टियोग का वर्णन संख्या ५९ में हो चुका है।

(९५) जाग्रत और स्वप्न अवस्थाओं में दृष्टि और श्वास चंचल रहते हैं, मन भी चंचल रहता है। सुषुप्ति अवस्था (गहरी नींद) में दृष्टि और मन की चंचलता नहीं रहती है, पर श्वास की गति बन्द नहीं होती है। इन स्वाभाविक बातों से

जाना जाता है कि जब-जब दृष्टि चंचल है, मन भी चंचल है; जब दृष्टि में चंचलता नहीं है, तब मन की चंचलता जाती रहती है और श्वास की गति होती रहने पर भी दृष्टि का काम बन्द रहने के समय मन का काम भी बन्द हो जाता है। अतएव यह सिद्ध हो गया कि मन के निरोध के हेतु में दृष्टि-निरोध की विशेष मुख्यता है। मन और दृष्टि, दोनों सूक्ष्म हैं और श्वास स्थूल। इसलिए भी मन पर दृष्टि के प्रभाव का श्वास के प्रभाव से अधिक होना अवश्य ही निश्चित है।

(९६) दृष्टि के चार भेद हैं—जाग्रत की दृष्टि, स्वप्न की दृष्टि, मानस दृष्टि और दिव्य दृष्टि। दृष्टि के पहले तीनों भेदों के निरोध होने से मनोनिरोध होगा और दिव्यदृष्टि खुल जाएगी। दिव्यदृष्टि में भी एकविन्दुता रहने पर मन की विशेष ऊर्ध्वगति होगी और मन सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाद को प्राप्त कर उसमें लय हो जाएगा।

(९७) जब मन लय होगा, तब सुरत को मन का संग छूट जाएगा। मन-विहीन हो, शब्द-धारों से आकर्षित होती हुई निःशब्द में अर्थात् परम प्रभु सर्वेश्वर में पहुँचकर वह भी लय हो जायगी। अन्तर-साधन की यहाँ पर इति हो गई। प्रभु मिल गये। काम समाप्त हुआ।

(९८) साधक को स्वावलम्बी होना चाहिये। अपने पसीने की कमाई से उसे अपना निर्वाह करना चाहिये। थोड़ी-सी वस्तुओं को पाकर ही अपने को संतुष्ट रखने की आदत लगानी उसके लिए परमोचित है।

(९९) काम, क्रोध, लोभ, मोह अहंकार, चिढ़, द्वेष आदि मनोविकारों से खूब बचते रहना और दया, शील, सन्तोष, क्षमा, नम्रता आदि मन के उत्तम और सात्त्विक गुणों को धारण करते रहना, साधक के पक्ष में अत्यन्त हित है।

(१००) मांस और मछली का खाना तथा मादक द्रव्यों का सेवन, मन में विशेष चंचलता और मूढ़ता उत्पन्न करते हैं। साधकों को इनसे अवश्य बचना चाहिये।

(१०१) ज्ञान-बिना कर्त्तव्य कर्म का निर्णय नहीं हो सकता। कर्त्तव्यकर्म के निर्णय के बिना अकर्त्तव्य कर्म भी किया जायगा, जिससे अपना परम कल्याण नहीं होगा; इसलिए ज्ञानोपार्जन अवश्य करना चाहिये, जो विद्याभ्यास और सत्संग से होगा।

(१०२) शुद्ध आत्मा का स्वरूप अनन्त है। अनन्त के बाहर कुछ अवकाश हो, सम्भव नहीं है; अतएव उसका कहीं से आना और उसका कहीं जाना, माना नहीं जा सकता है; क्योंकि दो अनन्त हो नहीं सकते। चेतन-मण्डल सान्त है, उसके बाहर अवकाश है; इसलिए उसके धार-रूप का होना और उस धार में आने-जाने का गुण होना निश्चित है। अनन्त के अंश पर के प्रकृति के आवरणों का मिट जाना, उस अंश-रूप का मोक्ष कहलाता है। स्थूल शरीर जड़ात्मक प्रकृति से बना एक आवरण है। इसमें चेतन-धार के रहने तक यह स्थित रहता है, नहीं तो मिट जाता है। इस नमूने से यह निश्चित है कि जड़ात्मक प्रकृति के अन्य तीनों आवरण भी मिट जाएँगे, यदि उन तीनों में चेतन-धार वा सुरत न रहे। अन्तर में नादानुसंधान से सुरत जड़ात्मक सब आवरणों से पार हो जाएगी, उनमें नहीं रहेगी और अंत में स्वयं भी आदिनाद के आकर्षण से आकर्षित हो, अपने केन्द्र में केन्द्रित होकर उसमें विलीन हो जाएगी। इस तरह सब आवरणों का मिटना होगा। उस चेतन-धार के कारण एक पिंड बनने योग्य प्रकृति के जितने अंश की स्थिति (कैवल्य, महाकारण, कारण, सूक्ष्म और स्थूल रूपों में) सम्भव है, वह मिट जाएगी और उसके

मिटने से शुद्धात्मा का जो अंश आवरणहीन हो जायगा, वह मुक्त हुआ कहा जायगा। यद्यपि शुद्ध आत्मतत्त्व सर्वव्यापक होने पर भी मायिक दुःख-सुख का सदा अभोगी ही रहता है, तथापि उसके और चित् (चेतन), अचित् (जड़) के संग से जीवात्मा की स्थिति प्रकट होती है, जिसको उपर्युक्त दुःख-सुख का भोग होता है, वह भोग अशांतिपूर्ण होने के कारण मिटा देने-योग्य है। उपुर्यक्त संग के मिटने से ही यह भोग मिटेगा; क्योंकि वह संग ही इस भोग और उपर्युक्त जीव-रूप इसके भोगी; दोनों का कारण है।

(१०३) जीवता का उदय हुआ है, इसका नाश भी किया जा सकेगा। इसके नाश से आत्मा की कुछ हानि नहीं। इसके मिटने से आत्मा नहीं मिटेगी। आत्मा का मिटना असम्भव है; क्योंकि अनन्त का मिटना असम्भव है। जब किसी जीवन-काल में (पूर्ण समाधि में) जीवता मिटा दी जायगी, तभी जीवन-मुक्त की दशा प्राप्त होगी और जीवन-काल के गत होने (मरने) पर भी मुक्ति होगी, अन्यथा नहीं। मोक्ष के साधन में लगे हुए अभ्यासी को जीवन-काल में मुक्ति नहीं मिलने पर उस जीवन-काल के अनन्तर फिर मनुष्य-जन्म होगा; क्योंकि दूसरी योनि उसके मोक्ष-साधन के संस्कार को सँभालने और उसको आगे बढ़ाने के योग्य नहीं है। इस प्रकार मोक्ष-साधक बारम्बार उत्तम-उत्तम मनुष्य-जन्म पाकर अन्त में सदा के लिए मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

परम प्रभु में सृष्टि की मौज का उदय जहाँ से हुआ, वहाँ उसका फिर लौट आना असम्भव है; क्योंकि वह मौज रचना करती हुई उसमें जिधर को प्रवाहित है, उधर को काल के अन्त तक प्रवाहित होती हुई तथा रचना करती हुई चली जायगी; परन्तु अनन्त का न अन्त होगा और न फिर वह मौज

वहाँ लौटेगी, जहाँ से उसका प्रवाह हुआ था। इसलिए उस मौज के केन्द्र में जो सुरत केन्द्रित होगी, वह फिर रचना में उतरे, यह सम्भव नहीं और तब यह भी सम्भव नहीं कि उस सुरत वा चेतन-धार के कारण प्रकृति के जिस अंश की स्थिति पहले हुई थी, वह पुनः बने, उसकी स्थिति से आत्मा का जो अंश आवरणित था, वह फिर आवरण-सहित हो और संख्या १०२ में कथित त्रय संग से पूर्व-जीवता का पुनरुदय हो। जिस मुक्ति का इसमें वर्णन हुआ है, वही असली मुक्ति है। उसके अतिरिक्त और प्रकार की मुक्ति केवल कहने मात्र की है, यथार्थ नहीं।

(१०४) सब आवरणों को पार किये बिना न परम प्रभु मिलेंगे और न परम मुक्ति मिलेगी। इसलिए दोनों फलों को प्राप्त करने का एक ही साधन है। ईश्वर-भक्ति का साधन कहो वा मुक्ति का साधन कहो; दोनों एक ही बात है।

जिमि थल बिनु जल रहि ना सकाई।
कोटि भाँति कोउ करै उपाई ।।
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई।
रहि न सकइ हरि भगति बिहाई ।।

(तुलसीकृत रामायण)

परम प्रभु सर्वेश्वर के अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने का साधन

(१०५) परम प्रभु सर्वेश्वर के अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने के साधन को जानने के पहले परम प्रभु के स्वरूप का तथा निज स्वरूप का परोक्ष ज्ञान श्रवण और मनन-द्वारा प्राप्त करना चाहिये। और सृष्टि-क्रम के ज्ञान के सहित यह भी जानना चाहिये कि कथित युगल स्वरूपों का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होने का कारण क्या है? परम प्रभु के स्वरूप का श्रवण और मनन-ज्ञान प्राप्त कर लेने पर यह निश्चित हो जाएगा कि प्राप्त करना क्या है? क्षेत्र-सहित क्षेत्रज्ञ उसको प्राप्त कर

सकेगा वा केवल क्षेत्रज्ञ ही उसे प्राप्त करेगा तथा इसके लिए बाहर में वा अन्तर में किस ओर अभ्यास करना चाहिये? ये सब आवश्यक बातें निश्चित हो जाएँगी, तब अनावश्यक भटकन छूट जाएगी। अपने स्वरूप के वैसे ही ज्ञान से यह थिर हो जाएगा कि मैं उसे प्राप्त करने योग्य हूँ अथवा नहीं? सृष्टि-क्रम के विकास का तथा परम प्रभु और निज स्वरूपों का अपरोक्ष ज्ञान नहीं होने के कारण की जानकारियों से उस आधार का पता लग सकेगा, जिसके अवलम्ब से सृष्टि वा उपर्युक्त कारण-रूप आवरण से पार जाकर परम प्रभु से मिलन तथा उसके अपरोक्ष ज्ञान का होना परम सम्भव हो जाएगा। इसके लिए उपनिषदों को वा भारती सन्तवाणी को ढूँढ़ा जाए वा इसे तर्क-बुद्धि से निश्चय किया जाए, थिर यही होगा कि परम प्रभु सर्वेश्वर का स्वरूप अव्यक्त, इन्द्रियातीत (अगोचर), आदि-अन्त-रहित, अज, अविनाशी, देशकालातीत, सर्वगत तथा सर्वपर है और जैसे घटाकाश, महदाकाश का अंश है, इसी तरह निज स्वरूप भी परम प्रभु सर्वेश्वर का अंश है। तत्त्वरूप में दोनों एक ही हैं, पर परम प्रभु आवरण से आवरणित नहीं; किन्तु निज स्वरूप अथवा सर्वेश्वर का पिण्डस्थ अंश आवरणित है। सगुण अपरा प्रकृति के महाकारण, कारण, सूक्ष्म, और स्थूल; इन चारो आवरणों से आवरणित रहने के कारण उपर्युक्त दोनों स्वरूपों का अपरोक्ष ज्ञान नहीं हो पाता है। जब परम प्रभु सर्वेश्वर में सृष्टि की मौज होती है, तभी सृष्टि उपजती है। इसलिए सृष्टि के आदि में मौज वा कम्प का मानना अनिवार्य होता है और मौज वा कम्प का शब्दमय न होना असम्भव है। इसलिए सृष्टि के आदि में अनिवार्य रूप से शब्द मानना ही पड़ता है। सृष्टि का विकास बारीकी की ओर से मोटाई वा स्थूलता की ओर को होता हुआ

चला आया है। सृष्टि के जिस प्रकार के मण्डल में हमलोग हैं, वह स्थूल कहलाता है। इससे ऊपर सूक्ष्ममण्डल, सूक्ष्म के ऊपर कारणमण्डल, कारणमण्डल के ऊपर महाकारण-मण्डल अर्थात् कारण की खानि साम्यावस्थाधारिणी जड़ात्मक मूल प्रकृति और इसके भी ऊपर चैतन्य वा परा प्रकृति वा कैवल्य (जड़-रहित चैतन्य) मण्डल; इन चार प्रकार के मण्डलों का होना ध्रुव निश्चित है। अतएव स्थूल मण्डल के सहित सृष्टि के पाँच मण्डल स्पष्ट रूप से जानने में आते हैं। कैवल्य मण्डल निर्मल चैतन्य है और बचे हुए चार मण्डल चैतन्य-सहित जड़ मण्डल हैं। प्रत्येक मण्डल बनने के लिए प्रथम प्रत्येक का केन्द्र अवश्य ही स्थापित हुआ। केन्द्र से मण्डल बनने की धार (मौज वा कम्प वा शब्द) जारी होने पर ही मण्डल की सृष्टि हुई। धार जारी होने में सहचर शब्द अवश्य हुआ। अतएव कथित केन्द्रों के केन्द्रीय शब्द अनिवार्य रूप से मानने पड़ते हैं। शब्द में अपने उद्गम स्थान पर आकर्षण करने का स्वभाव प्रत्यक्ष ही है। इन बातों को जानने पर यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि सृष्टि का विकास शब्द से होता हुआ चला आया है और इसलिए सृष्टि के सब आवरणों से पार जाने का अत्यन्त युक्तियुक्त आधार वर्णित शब्दों से विशेष कुछ नहीं है। ये कथित केन्द्रीय शब्द वर्णात्मक हो नहीं सकते; ये ध्वन्यात्मक हैं। नादानुसंधान वा सुरत-शब्द-योग इन्हीं नादों वा ध्वन्यात्मक शब्दों का होता है और उल्लिखित शब्द के आकर्षण के कारण सुरत-शब्द-योग का फल अत्यन्त ऊर्ध्वगति तक पहुँचना निश्चित और युक्तियुक्त है। ऊपर के कथित सृष्टि के पाँच मण्डल ही पाँच आवरण हैं, जो पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड (बाह्य जगत्); दोनों को विशेष रूप से संबंधित करते हुए दोनों में भरे हैं। परा प्रकृति वा सुरत वा कैवल्य

चैतन्य-स्वरूप परम प्रभु सर्वेश्वर के निज स्वरूप के अत्यन्त समीपवर्त्ती होने के कारण उसके स्वरूप से मिलने वा उसका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने के सर्वथा योग्य है। निज स्वरूप इस चैतन्य तत्त्व से अवश्य ही उच्च और अधिक योग्यता का है और चैतन्य क्षेत्र का सर्वोत्कृष्ट रूप है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि क्षेत्र के केवल इसी एक अगुण और सर्वोत्कृष्ट रूप के सहित क्षेत्रज्ञ को निज स्वरूप के सहित परम प्रभु सर्वेश्वर के स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान होगा; परन्तु क्षेत्र के अन्य चार सगुण रूपों के सहित वा इन चारों में से किसी एक के सहित रहने पर स्वरूप का वह ज्ञान वा उसकी प्राप्ति नहीं होगी। यह निःसन्देह है कि निज को निज का तथा परम प्रभु के स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान होना वा निज को निज की तथा परम प्रभु की प्राप्ति होनी ध्रुव सम्भव है।

ऊपर का शब्द नीचे दूर तक स्वाभाविक ही पहुँचता है। सूक्ष्म तत्त्व की धार स्थूल तत्त्व की धार से लम्बी होती है और वह अपने से स्थूल में स्वाभाविक ही समायी हुई होती है। रचना में ऊपर की ओर सूक्ष्मता और नीचे की ओर स्थूलता है। रचना में जो मण्डल जिस मण्डल से ऊपर है, वह उससे सूक्ष्म है। अतएव प्रत्येक ऊपर के मण्डल का केन्द्रीय शब्द प्रत्येक नीचे के मण्डल और उसके केन्द्रीय शब्द से क्रमानुसार सूक्ष्म है। इसलिए ऊपर के मण्डलों के केन्द्र से उत्थित शब्द, नीचे के मण्डलों के केन्द्रों पर क्रमानुसार अर्थात् पहला निचले मण्डल के केन्द्र पर से उसके ऊपर के मण्डल का केन्द्रीय शब्द और इस दूसरे निचले मण्डल के केन्द्र पर उसके ऊपर के मण्डल का केन्द्रीय शब्द, इस तरह क्रम-क्रम से अवश्य ही धरे जायँगे और अन्त में सबसे ऊपर के कैवल्य मण्डल के केन्द्र से अर्थात् स्वयं परम प्रभु सर्वेश्वर से उत्थित शब्द महाकारणमण्डल

के केन्द्र पर अवश्य ही पकड़ा जा सकेगा और उस शब्द से आकर्षित होकर चैतन्य वा सुरत परम प्रभु से जा मिलकर उनसे एकमेक हो विलीन हो जाएगी। परम प्रभु सर्वेश्वर के अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने के साधन की यही पराकाष्ठा है। परम प्रभु से उत्थित यह आदिनाद वा शब्द, सब पिण्डों तथा सब ब्रह्माण्डों के अन्तस्तल में सदा अप्रतिहत और अविच्छिन्न रूप से ध्वनित होता है और सृष्टि की स्थिति तक अवश्य ही ध्वनित होता रहेगा; क्योंकि इसी के उदय के कारण से सब सृष्टि का विकास है और यदि इसकी स्थिति का लोप होगा, तो सृष्टि का भी लोप हो जाएगा। ऋषियों ने इसी अलौकिक और अनुपम आदि निर्गुण नाद को 'ॐ' कहा है और भारती सन्तवाणी में इसी को 'निर्गुण रामनाम' 'सत्यनाम', सत्यशब्द, आदिनाम और सारशब्द आदि कहा है। उपर्युक्त वर्णनानुसार शब्दधारों को धरने के लिए बाहर की ओर यत्न करना व्यर्थ है। यह तो गुरु-आश्रित होकर अन्तर-ही-अन्तर यत्न और अभ्यास करने से होगा। अपने अन्तर में ध्यानाभ्यास से अपने को वा अपनी सुरत वा अपनी चेतन-वृत्ति को विशेष-से-विशेष अन्तर्मुखी बनाना सम्भव है। प्रथम ही सूक्ष्म ध्यानाभ्यास स्वभावानुकूल नहीं होने के कारण असाध्य है। इसलिए प्रथम मानस जप द्वारा मन को कुछ समेट में ला, फिर स्थूल मूर्ति का मानस ध्यानाभ्यास कर अपने को सूक्ष्म ध्यानाभ्यास करने के योग्य बना, दृष्टि-योग से एकविन्दुता प्राप्त करने का सूक्ष्म ध्यानाभ्यास करके नादानुसंधान वा सुरत-शब्द-योग अभ्यास कर नीचे से ऊपर तक सारे आवरणों से पार हो, अन्त तक पहुँचना परम सम्भव है। ऊपर यह वर्णन हो चुका है कि पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों को विशेष रूप से सम्बन्धित करते हुए दोनों को सृष्टि से वर्णित मण्डल वा आवरण भरपूर करते हैं और

इन्हीं आवरणों को पार करना, सारे आवरणों को पार करना है। कथित विशेष सम्बन्ध इनमें यह है कि पिण्ड के जिस आवरण में जो रहेगा, बाहर के ब्रह्माण्ड के उसी आवरण में वह रहेगा और पिण्ड के जिस आवरण को वा सब आवरणों को जो पार करेगा, ब्रह्माण्ड के उसी आवरण को वा सब आवरणों को वह पार का जायगा अर्थात् जो पिण्ड को पार कर गया, वह ब्रह्माण्ड को भी पार कर गया, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। परम योग, परम ज्ञान और परमा भक्ति का गम्भीरतम रहस्य और अन्तिम फल प्राप्त करने का साधन समास रूप में कहा जा चुका।

(१०६) ॐ के बारे में विशेष जानकारी के लिए भाग पहले में श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय १, श्लोक ७ के अर्थ के नीचे लिखित टिप्पणी में पढ़िये तथा भाग २, पृष्ठ २६१ में स्वामी विवेकानन्दजी महाराज का वर्णन पढ़िए और ॐ को आदि सारशब्द नहीं मानना, इसे केवल त्रिकुटी का ही शब्द मानना, किस तरह अयुक्त है, सो इसी भाग, पृ० ३१२, पारा ७१ में पढ़िये तथा भाग ३, पृष्ठ २९३ में स्वामी श्रीभुमानन्दजी महाराज का वर्णन पढ़िये ।

(१०७) यह बात युक्तियुक्त नहीं है कि कोई भक्त केवल निर्गुण ब्रह्म के, कोई केवल सगुण बह्म के और कोई केवल सगुण-निर्गुण के परे अनामी पुरुष के उपासक होते हैं। निर्गुण अनामी, मायातीत, अव्यक्त, अगोचर, अलख, अगम और अचिन्त्य हैं अर्थात् इन्द्रिय, मन और बुद्धि के परे है। उपासना का आरम्भ मन से ही होगा। अतएव आरम्भ में ही निर्गुण की उपासना नहीं हो सकेगी और अनामी तो साध्य वा प्राप्य है, साधन नहीं है, निर्गुण-उपासना से यह प्राप्त होता है (देखिये—भाग ४, पृष्ठ ३१०, पारा ६२-६३)। उपासना का

आरम्भ होगा सगुण से ही, पर उपासक पारा संख्या ५९, ६०, ६१, ६२ में किये गये वर्णनों के अनुसार बढ़ते-बढ़ते निर्गुण-उपासक होकर अन्त में अनामी (शब्दातीत) पुरुषोत्तम को प्राप्त कर कृत-कृत्य हो जाएगा। इसके लिए भाग २ में लोकमान्य बालगंगाधर तिलक महोदय के वचन भी पृष्ठ २४२ से २४५ तक पढ़ने योग्य है। सन्त कबीर साहब और गुरु नानक साहब और इनके ऐसे सन्तों को केवल निर्गुण-उपासक और गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी महाराज तथा श्रीसूरदासजी महाराज को केवल सगुण-उपासक जानना भूल है; क्योंकि कबीर साहब और गुरु नानक साहब गुरु-मूर्त्ति का ध्यान भी बतलाते हैं, जो स्थूल सगुण-उपासना ही हुई। (देखिये भाग २, पृष्ठ १२०, स्थूल-ध्यान और पृष्ठ १५२) और गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज जहाँ सगुण राम की प्रेममयी कथा और भव्य माहात्म्य को बहुत सुन्दर विस्तार-पूर्वक अपने 'रामचरितमानस' में गाते हैं, वहाँ उसी में, दोहावली में और विनय-पत्रिका में वे राम के निम्नलिखित स्वरूप का भी वर्णन करते हैं। वे राम को तुरीयावस्था में पहुँचकर भजने के लिए कहते हैं, पुनः देशकालातीत और अतिशय द्वैत-वियोगी पद का तथा उसके महत्त्व का वर्णन कर, भक्त को अन्तर-मार्गी बन, वहाँ तक पहुँचकर संशयों को निर्मूल कर नष्ट कर देने के लिए कहते हैं। वे रामनाम को अकथ तथा निर्गुण भी कहते हैं; यथा–

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द पर धामा।।

सोरठा– राम स्वरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धि पर।
अविगत अकथ अपार, नेति नेति नित निगम कह।।

॥ चौपाई ॥

जग पेखन तुम देखनिहारे। विधि-हरि सम्भु नचावनिहारे।।
तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुमहिं को जाननहारा।।

सोइ जानहि जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई।।
चिदानन्दमय देह तुम्हारी। विगत विकार जान अधिकारी।।
नर तनु धरेउ सन्त सुर काजा। करहु कहहु जस प्राकृत राजा।।

॥ चौपाई ॥

जो माया सब जगहिं नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा।।
सो प्रभु भ्रू विलास खगराजा।नाच नटी इव सहित समाजा।।
सोइ सच्चिदानन्द घन रामा। अज विज्ञान रूप बल धामा।।
व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता।अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता।।
अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता।।
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख सन्दोहा।।
प्रकृति पार प्रभु सब उर वासी। ब्रह्म निरीह विरज अविनासी।।
इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रवि सन्मुख तम कबहुँ कि जाहीं।।

दो०– भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप।।
यथा अनेकन भेष धरि, नृत्य करै नट कोइ।
सोइ सोइ भाव देखावइ, आपुन होइ न सोइ।।

दो०– निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ।।

–रामचरितमानस

दो०– हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहु पुरट सम्पुट लसत, तुलसी ललित ललाम।।

–दोहावली

राम-नाम निर्गुण और अकथ है, इसके वर्णन की चौपाइयों को पृष्ठ २९९, पारा ४ में देखिये और नाम के विशेष वर्णन को जानने के लिए इसी चौथे भाग के पृष्ठ ३०२, पारा ३५ और पृष्ठ ३०८, पारा ५८ को पढ़िये। इन बातों से प्रकट है कि गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज आन्तरिक आदि निर्गुण

नाद के भी ज्ञाता और उपासक थे। इस अन्तिम उपासना के बिना कोई अद्वैत, देश-कालातीत, अनाम पद तक पहुँचे, सम्भव नहीं है। यदि इस उपासना के बिना ही कथित अद्वैत पद तक किसी अन्य उपासना से भी पहुँच हो, तो नादानुसंधान वा सुरत-शब्द-योग की विशेषता नहीं मानने योग्य है और नादानुसंधान की विशेषता मिटते ही सन्तमत की भी विशेषता मिट जायगी; परन्तु ऐसा होना युक्तिवाद के अनुकूल नहीं है, इसलिए यह सम्भव नहीं। गो० तुलसीदासजी महाराज तुरीयावस्था प्राप्त कर राम का भजन करने और अपने अन्तर में ही राम को प्राप्त करने के लिए भी बतलाते हैं। इसके लिए भाग २, पृष्ठ २०८ से २१० तक में लिखित उनकी विनय-पत्रिका के इन पद्यों को पूरा-पूरा पढ़िये–(१) रघुपति भगति करत कठिनाई ---------- सकल दृस्य निज उदर मेलि सोवइ निद्रा तजि योगी। सोइ हरिपद अनुभवइ परम सुख अतिसय द्वैत वियोगी॥----- देस काल तहँ नाहीं। ---- तुलसिदास यहि दसा हीन संसय निर्मूल न जाहीं॥ (२) श्री हरि गुरु-पद कमल भजहिं मन तजि अभिमान।-----तेरसि तीन अवस्था तजहु भजहु भगवन्त। मन क्रम वचन अगोचर व्यापक व्याप्य अनन्त। -------तुलसीदास प्रयास बिनु, मिलहिं राम दुखहरन॥ (३) एहि तें मैं हरि ज्ञान गँवायो। परिहरि हृदय कमल रघुनाथहिं बाहर फिरत विकल भय धायो ---- कीजै नाथ उचित मन भयो॥

जबकि गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज श्रीराम के नर-शरीर का भी और चिदानन्दमय शरीर का भी वर्णन करते हैं, तब शरीर से शरीरी को फुटाकर समझने से शरीरी शरीर से अवश्य ही तत्त्व-रूप में भिन्न, उच्च, उत्कृष्ट और विशेष होता है। इसलिए यह अवश्य मानना पड़ता है कि गोस्वामी तुलसीदासजी

महाराज ने श्रीराम के स्वरूप को सच्चिदानन्द रूप से भी उत्कृष्ट और उच्च शुद्ध आत्मस्वरूप का वर्णन किया है ।

ऐसे ही सूरदासजी महाराज के भी इन पद्यों को भाग २ के पृष्ठ २१० से २१३ तक में पढ़िये–(१) अपुनपौ आपुन ही में पायो। शब्दहि शब्द भयो उजियारो सतगुरु भेद बतायो॥----ज्यों गूँगो गुड़ खायो॥ (२) जौं लौं सत्य स्वरूप न सूझत ---- अन्ध नयन बिनु देखे॥ (३) अपने जान मैं बहुत करी। ------ छमो सूर तें सब बिगरी॥ इन सन्तों के एसे वर्णनों को पढ़कर इनको केवल कवि ही जानना, इन्हें सन्त नहीं मानना, मेरे जानते इनका अकारण ही अनादर करना है और जो लोग इनको केवल स्थूल-सगुण-उपासक ही मानते हैं, वे इनके परम उच्च गम्भीर ज्ञान और इनके ध्यान की पूर्णता को विदित नहीं करके इनके परम उच्च पद को न्यून करके दरसाते हैं।

-- :: ० :: --

पद्य

॥ ईश-स्तुति ॥

(१)

सब क्षेत्र क्षर अपरा परा पर, औरु अक्षर पार में।
निर्गुण सगुण के पार में, सत् असत् हू के पार में ॥१॥
सब नाम रूप के पार में, मन बुद्धि वच के पार में।
गो गुण विषय पँच पार में, गति भाँति के हू पार में ॥२॥
सूरत निरत के पार में, सब द्वन्द्व द्वैतन्ह पार में।
आहत अनाहत पार में, सारे प्रपंचन्ह पार में ॥३॥
सापेक्षता के पार में, त्रिपुटी कुटी के पार में।
सब कर्म काल के पार में, सारे जंजालन्ह पार में ॥४॥

अद्वय अनामय अमल अति, आधेयता-गुण पार में ।
सत्ता स्वरूप अपार सर्वाधार, मैं तू पार में ॥५॥
पुनि ओ३म् सोऽहम् पार में, अरु सच्चिदानन्द पार में ।
हैं अनन्त व्यापक व्याप्य जो, पुनि व्याप्य व्यापक पार में ॥६॥
हैं हिरण्यगर्भहु खर्व जासों, जो हैं सान्तन्ह पार में ।
सर्वेश हैं अखिलेश हैं, विश्वेश हैं सब पार में ॥७॥
सत् शब्द धरकर चल मिलन, आवरण सारे पार में ।
सद्गुरु करुण कर तर ठहर, धर 'मेंहीं' जावे पार में ॥८॥

(२)

सर्वेश्वरं सत्य शान्तिं स्वरूपं ।
सर्वमयं व्यापकं अज अनूपं ॥१॥
तन बिन अहं बिन, बिना रंग रूपं ।
तरुणं न बालं न वृद्धं स्वरूपं ॥२॥
गुण गो महातत्त्व हंकार पारं ।
गुरु ज्ञान गम्यं अगुण ते हु न्यारं ॥३॥
रुज संसृतं पार आधार सर्वं ।
रुद्धं नहीं नाहीं दीर्घं न खर्वं ॥४॥
ममतादि रागादि दोषं अतीतं ।
महा अद्भुतं नाहिं तप्तं न शीतं ॥५॥
हार्दिक विनय मम सूनो प्रभु नमामी।
हाटक वसन मणि की हू नाहिं कामी ॥६॥
राज्यं रु यौवन त्रिया नाहिं माँगूँ।
राजस रु तामस विषय संग न लागूँ ॥७॥
जन्मं मरण बाल यौवन बुढ़ापा ।
जर-जर करयो रु गेरयो अन्ध कूपा ॥८॥
कीशं समं मोह मुट्ठी को बाँधी ।
कीचड़ विषय फँसि भयो है उपाधी ॥९॥

जगत सार आधार देहू यही वर ।
जतन सों सो सेऊँ जो सतगुरु कुबुधि हर ॥१०॥
यही चाह स्वामी न औरो चहूँ कुछ ।
यहि बिन सकल भोग गन को कहूँ तुछ ॥११॥

॥ सद्गुरु-स्तुति ॥

नमामी अमित ज्ञान, रूपं कृपालं ।
अगम बोध दाता, सुबुधि निधि विशालं ॥१॥
क्षमाशील अति धीर, गम्भीर ज्ञानं ।
धरम कील दृढ़ थीर, सम धीर ध्यानं ॥२॥
जगत् त्राण कारी, अघारी उदारं ।
भगत प्राण रूपं, दया गुण अपारं ॥३॥
नमो सत्गुरुं, ज्ञान दाता सु स्वामी ।
नमामी नमामी नमामी नमामी ॥४॥
हरन भर्म भूलं, दलन पाप मूलं ।
करन धर्म पूलं, हरण सर्व शूलं ॥५॥
जलन भव विनाशन, हनन कर्म पाशन ।
तनन आस नाशन, गहन ज्ञान भाषण ॥६॥
युगल रत्न पुरुषार्थ, परमार्थ दाता ।
दया गुण सु माता, अमर रस पिलाता ॥७॥
नमो सत्गुरुं सर्व पूज्यं अकामी ।
नमामी नमामी, नमामी नमामी ॥८॥
सरब सिद्धि दाता, अनाथन को नाथा ।
सुगुण बुधि विधाता, कथक ज्ञान-गाथा ॥९॥
परम शांति दायक, सुपूज्यन को नायक ।
परम सत्सहायक, अधर कर गहायक ॥१०॥
महाधीर योगी, विषय रस वियोगी ।
हृदय अति अरोगी, परम शांति भोगी॥११॥

नमो सद्गुरुं सार, पारस सु स्वामी ।
नमामी नमामी, नमामी नमामी ॥१२॥
महाघोर कामादि, दोषं विनाशन ।
महाजोर मकरन्द, मन बल हरासन ॥१३॥
महावेग जलधार, तृष्णा सुखायक ।
महा सुक्ख भण्डार, सन्तोष दायक ॥१४॥
महा शांति दायक, सकल गुण को दाता ।
महा मोह त्रासन, दलन धर सुगाता ॥१५॥
नमो सद्गुरुं, सत्य धर्म सु धामी ।
नमामी नमामी, नमामी नमामी ॥१६॥
जो दुष्टेन्द्रियन नाग, गण विष अपारी ।
हैं सद्गुरु सु गारुड़, सकल विष संघारी ॥१७॥
महामोह घनघोर, रजनी निविड़ तम ।
हैं सद्गुरु वचन दिव्य, सूरज किरण सम ॥१८॥
महाराज सद्गुरु हैं, राजन को राजा ।
हैं जिनकी कृपा से, सरैं सर्व काजा ॥१९॥
भने 'मेँहीँ' सोई, परम गुरु नमामी ।
नमामी नमामी, नमामी नमामी ॥२०॥

-- :: ० :: --

सद्गुरु नमो सत्य ज्ञानं स्वरूपं ।
सदाचारि पूरण सदानन्द रूपं ॥१॥
तरुण मोह घन तम विदारण तमारी ।
तरण तारणंऽहं बिना तन विहारी ॥२॥
गुण त्रय अतीतं सु परमं पुनीतं ।
गुणागार संसार द्वन्द्वं अतीतं ॥३॥
रुज संसृतं वैद्य परमं दयालुं ।
रुलकर प्रभू मध्य प्रभू ही कृपालुं ॥४॥

मनन शील सम शील अति ही गंभीरं ।
मरुत मदन मेघं सुयोगी सुधीरं ॥५॥
हानिं रु लाभं जुगल मध समं थीर ।
हालन चलन शुभ्र इन्द्रिय दमन वीर ॥६॥
राग रोषं बिनं शुद्ध शान्तिं स्वरूपं ।
राकापतिं तुल्यं शीतल अनूपं ॥७॥
जरा जन्म मृत्यु परं पार धामी ।
जगत आत्म तुल्यं हृदय अति अकामी ॥८॥
कीरति सु भृंगं समं सो सु स्वामी ।
कीटन्ह स्वयं सम करन गुरु नमामी ॥९॥
जगत त्राण कर्त्ता रु हर्ता भौजालं ।
जरा जन्म हर्ता रु कर्ता सु भालं ॥१०॥
यज्ञं जपं तप फलं हूँ न कामी ।
यक सद्गुरुं पद नमामी नमामी ॥११॥

॥ चौपाई ॥

सत्य ज्ञान दायक गुरु पूरा । मैं उन चरणन को हौं धूरा ॥
तन अघ मन अघ ओघ नसावन । संशय शोक सकल दुख दावन ॥
गुरु गुण अमित अमित को जाना । संछेपहिं सब करत बखाना ॥
रुज भव नाशन सतगुरु स्वामी । बार बार पद जुगल नमामी ॥
मन्द मन्दता सकल निवारण । काम क्रोध मद लोभ सँघारन ॥
हानि लाभ सुख दुख सम कारी । हर्ष विषाद गुरू दें टारी ॥
राजत सकल सिरन गुरु स्वामी । अगम बोध दाता सुख धामी ॥
जनम मरन गुरु देहिं छोड़ाई । जयति जयति जय जय सुखदाई ॥
कीरति अमल विमल बुधि जाकी । धनि धनि सतगुरु सीम दया की ॥
जग तारन कारण सद्गति की । पथ दाता सत सरल भगति की ॥
यम नीयम सब में अति पूरन । सत्गुरु महाराज की जय भन ॥

॥ चौपाई ॥

सम दम और नियम यम दस दस ।
सतगुरु कृपा सधें सब रस रस ॥
तन मन पीर गुरू संघारत ।
तम अज्ञान गुरु सब टारत ॥
गुण त्रयफन्द कटत हैं गुरु सँगु ।
गुण निर्मल लह रटत गुरू मगु ॥
रुचत कर्म सत धर्म कथा अरु ।
रुकत मोह मद संग करत गुरु ॥
मरत आस जग हो सुख दुख सम ।
मदद गुरू की हो अवगुण कम ॥
हाजत पूरै रहै न चाहा ।
हानि न गुरु सों होवत लाहा ॥
राहत बखसनहार अपारा ।
राग द्वेष तें करें नियारा ॥
जम दुख नासैं सारैं कारज ।
जय जय जय प्रभु सत्य अचारज ॥
कीनर नर सुर असुर गुरू की ।
कीरति भनत कहत जय गुरु की ॥
जनम नसै अरु होय अमर अज ।
जय जय सद्गुरु जय सद्गुरु भज ॥
यत्न सहित करु गुरु कहते सोय ।
यम शम दम अरु नियम पूर्ण होय ॥

मंगलाचरण

दोहा— मंगल मूरति सतगुरू, मिलवैं सर्वाधाार ।
मंगलमय मंगल करण, विनवौं बारम्बार ॥
ज्ञान उदधि अरु ज्ञान घन, सतगुरु शंकर रूप ।
नमो नमो बहु बारहीं, सकल सुपूज्यन भूप ॥

सकल भूल नाशक प्रभू, सतगुरु परम कृपाल ।
नमो कंज पद युग पकड़ि, सुनु प्रभु नजर निहाल ॥
दया दृष्टि करि नाशिये, मेरो भूल अरु चूक ।
खरो तीक्ष्ण बुधि मोरि ना, पाणि जोड़ि कहुँ कूक ॥
नमो गुरू सतगुरु नमो, नमो नमो गुरु देव ।
नमो विघ्न हरता गुरू, निर्मल जाको भेव ॥
ब्रह्म रूप सतगुरु नमो, प्रभु सर्वेश्वर रूप ।
राम दिवाकर रूप गुरू, नाशक भ्रम तम कूप ॥
नमो सु साहब सतगुरू, विघ्न विनाशक द्याल ।
सुबुधि विगासक ज्ञानप्रद, नाशक भ्रम तम जाल ॥
नमो नमो सतगुरु नमो, जा सम कोउ न आन ।
परम पुरुषहू तें अधिक, गावें सन्त सुजान ॥

॥ छप्पय ॥

जय जय परम प्रचण्ड, तेज तम मोह विनाशन ।
जय जय तारण तरण, करन जन शुद्ध बुद्ध सन ॥
जय जय बोध महान, आन कोउ सरवर नाहीं ।
सुर नर लोकन माहिं, परम कीरति सब ठाहीं ॥
सतगुरु परम उदार हैं, सकल जयति जय जय करें ।
तम अज्ञान महान् अरु, भूल चूक भ्रम मम हरें ॥१॥
जय जय ज्ञान अखण्ड, सूर्य भव तिमिर विनाशन ।
जय जय जय सुख रूप, सकल भव त्रास हरासन ॥
जय जय संसृति रोग सोग, को वैद्य श्रेष्ठतर ।
जय जय परम कृपाल, सकल अज्ञान चूक हर ॥
जय जय सतगुरु परम गुरु, अमित अमित परणाम मैं ।
नित्य करूँ, सुमिरत रहूँ, प्रेम सहित गुरू नाम मैं ॥२॥
जयति भक्ति भण्डार, ध्यान अरु ज्ञान निकेतन ।
योग बतावनिहार, सरल जय जय अति चेतन ॥

करनहार बुधि तीव्र, जयति जय जय गुरु पूरे ।
जय जय गुरु महाराज, उक्ति दाता अति रूरे ॥
जयति जयति श्री सतगुरू, जोड़ि पाणि युग पद धरौं ।
चुक से रक्षा कीजिये, बार बार विनती करौं ॥३॥
भक्ति योग अरु ध्यान को, भेद बतावनिहारे ।
श्रवण मनन निदिध्यास, सकल दरसावनिहारे ॥
सतसंगति अरु सूक्ष्म वारता, देहिं बताई ।
अकपट परमोदार न कछु, गुरु धरें छिपाई ॥
जय जय जय सतगुरु सुखद, ज्ञान सम्पूरण अंग सम ।
कृपा दृष्टि करि हेरिये, हरिय युक्ति बेढंग मम ॥४॥

॥ चौपाई ॥

सतगुरु सत परमारथ रूपा । अतिहि दयामय दया सरूपा ॥१॥
अधम उधारन अमृत खानी। पर हित रत जाकी सतबानी ॥२॥
सतगुरु ज्ञान सिंधु अति निर्मल । सेवत मन इन्द्रिन हों निर्बल ॥३॥
धरम धुरन्धर सतगुरु स्वामी। सत्य धरम मत संत को हामी ॥४॥
सुरत शब्द मारग सुखदाई । सतगुरु यहि पथ देहिं बताई ॥५॥
बन्ध मोक्ष सब देहिं बताई । आत्म अनात्महु देहिं जनाई ॥६॥
विषय भोग तें लेहिं छोड़ाई । भव निधि बूड़त लेहिं बचाई ॥७॥
काउ न कृपावन्त सतगुरु सम । पद सेवा महँ मन पल पल रम ॥८॥

दोहा– धन्य धन्य सतगुरु सुखद । महिमा कही न जाय ।
जो कछु कहुँ तुम्हरी कृपा । मोतें कछु न बसाय ॥

॥ छन्द ॥

जय जयति सद्गुरु जयति जय जय, जयति श्री कोमल तनुं ।
मुनि वेष धारण करण मुनिवर, जयति कलिमल दल हनं ॥
जय जयति जीवन्मुक्त मुनिवर, शीलवन्त कृपालु जो ।
सो कृपा करिकै करिय आपन, दास प्रभु जी मोहि को ॥

जय जयति सद्गुरु जयति जय जय, सत्य सत् वक्ता प्रभू ।
हरि कुमति भर्महिं सुमति सत्य को, पाहि[1] मोहि दीजै अभू[2] ॥
यह रोग संसृति व्यथा शूलन्ह, मोह के जाये सभै ।
अति विषम शर बहु होय बेध्यो, मोहि अब कीजै अभै ॥
प्रभु ! कोटि कोटिन्ह बार इन्ह दुख, मोहि आनि सतायेऊ ।
यहु बार जहु एक वचन आशा, आय तहु में समायेऊ ॥
बिनु तुव कृपा को बचि सकै, तिहु काल तीनहु लोक में ।
प्रभु शरण तुव आरत जना तू, सहाय जन के शोक में ॥

-- :: ० :: --

सतगुरु सुख के सागर शुभ गुण आगर ज्ञान उजागर हैं ।टेक॥
अन्तर पथ गामी अति निःकामी अन्तर्यामी हैं ।
त्रय गुण पर योगी हरि रस भोगी अति निःसोगी हैं ॥१॥
थिर बुद्धि सुजाना यती सयाना धरि ध्वनि ध्याना हैं ।
सो ध्वनि सारा 'मँहीं' न्यारा सतगुरु धारे हैं ॥२॥

कजली

प्रभु अकथ अनाम अनामय स्वामी गो गुण प्रकृति परे ।टेक॥
क्षर अक्षर प्रभु पार परमाक्षर जा पद सन्त धरे ।
अगुण सगुण पर पुरुष प्रकृति पर सत्त असतहु परे ॥१॥
अनन्त अपारा सार के सारा जा भजि जीव तरे ।
'मँहीं' कर जोड़े प्रभुहिं निहोरे करु उधार हमरे ॥२॥

॥ आत्मा ॥

नहीं थल नहीं जल नहीं वायु अग्नी ।
नहीं व्योम ना पाँच तन्मात्र ठगनी ॥
ये त्रय गुण नहीं नाहिं इन्द्रिन चतुर्दश ।
नहीं मूल प्रकृति जो अव्यक्त अगम अस ॥
सभी के परे जो परम तत्त्व रूपी ।
सोई आत्मा है सोई आत्मा है ॥१॥

१. मेरी रक्षा करो। २. अभी

न उद्भिद् स्वरूपी न उष्मज स्वरूपी ।
न अण्डज स्वरूपी न पिण्डज स्वरूपी ।।
नहीं विश्व रूपी न विष्णु स्वरूपी ।
न शंकर स्वरूपी न ब्रह्मा स्वरूपी ।।सभी के०।।२।।
कठिन रूप ना जो तरल रूप ना जो ।
नहीं वाष्प को रूप तम रूप ना जो ।।
नहीं ज्योति को रूप शब्दहु नहीं जो ।
सटै कुछ भी जा पर सोऊ रूप ना जो ।।सभी के०।।३।।
न लचकन न सिकुड़न न कम्पन है जा में ।
न संचालना नाहिं विस्तृत्व जा में ।।
है अणु नाहिं परमाणु भी नाहिं जा में ।
न रेखा न लेखा नहीं विन्दु जा में ।।सभी के०।।४।।
नहीं स्थूल रूपी नहीं सूक्ष्म रूपी ।
न कारण स्वरूपी नहीं व्यक्त रूपी ।।
नहीं जड़ स्वरूपी न चेतन स्वरूपी ।
नहीं पिण्ड रूपी न ब्रह्माण्ड रूपी ।।सभी के०।।५।।
है जल थल में जोई पै जल थल है नाहीं ।
अगिन वायु में जो अगिन वायु नाहीं ।।
जो त्रय गुण गगन में न त्रय गुण अकाशा ।
जो इन्द्रिन में रहता न होता तिन्हन सा ।।सभी के०।।६।।
मूल माया की सब ओर अरु ओत प्रोतहु ।
भरो जो अचल रूप कस सो सुजन कहु ।।
भरो मूल माया में नाहीं सो माया ।
अव्यक्त हू को जो अव्यक्त कहाया ।।सभी के०।।७।।
ब्रह्मा महाविष्णु विश्व रूप हरि हर ।
सकल देव दानव रु नर नाग किन्नर ।।
स्थावर रु जंगम जहाँ लौं कछू है ।
है सब में जोई पर न तिनसा सोई है ।।सभी के०।।८।।

जो मारे मरै ना जो काटे कटै ना ।
जो साड़े सड़ै ना जो जारे जरै ना ।।
जो सोखा न जाता सोखे से कछू भी ।
नहीं टारा जाता टारे से कछू भी ।।सभी के०।।९।।
नहीं जन्म जाको नहीं मृत्यु जाको ।
नहीं बाल यौवन जरापन है जाको ।।
जिसे नाहीं होती अवस्था हु चारो ।
नहीं कुछ कहाता जो वर्णहु में चारो ।।सभी के०।।१०।।
कभी नाहिं आता न जाता है जोई ।
कभी नाहिं वक्ता न श्रोता है जोई ।।
कभी जो अकर्त्ता न कर्त्ता कहाता ।
बिना जिसके कुछ भी न होता बुझाता ।।सभी के०।।११।।
कभी ना अगुण वा सगुण ही है जोई ।
नहीं सत् असत् मर्त्य अमरहु न जोई ।।
अछादन करनहार अरु ना आछादित ।
न भोगी न योगी नहीं हित न अनहित ।।सभी के०।।१२।।
त्रिपुटी किसी में न आवै कभी भी ।
औ सापेक्ष भाषा न पावै कभी भी ।।
ओंकार शब्दब्रह्म हु को जो पर है ।
हत अरु अनाहत सकल शब्द पर है ।।सभी के०।।१३।।
जो टेढ़ो में रहकर भी टेढ़ा न होता ।
जो सीधों में रहकर भी सीधा न होता ।।
जो जिन्दों में रहकर न जिन्दा कहाता ।
जो मुर्दों में रहकर न मुर्दा कहाता ।।सभी के०।।१४।।
भरो व्योम से घट फिरै व्योम में जस ।
भरो सर्व तासों फिरै ताहि में तस ।।
नहीं आदि अवसान नहीं मध्य जाको ।
नहीं ठौर कोऊ रखै पूर्ण वाको ।।सभी के०।।१५।।

है घट मठ पटाकाश कहते बहुत-सा ।
न टूटै रहै एक ही तो अकाशा ।।
है तस ही अमित चर अचर हू को आतम ।
कहैं बहु न टूटै न होवै सो बहु कम ।।सभी के०।।१६।।
न था काल जब था वरतमान जोई ।
नहीं काल ऐसो रहेगा न ओई ।।
मिटैगा अवस काल वह ना मिटेगा ।
है सतगुरु जो पाया वही यह बुझेगा ।।सभी के०।।१७।।
सरब श्रेष्ठ तन धर की भी बुधि न गहती ।
जो ऐसो अगम संत-वाणी ये कहती ।।
करै पूरा वर्णन तिसे 'मेँहीँ' कैसे ।
है कंकड़ वणिक कहै मणिगुण को जैसे ।।सभी के०।।१८।।

।। पीव प्यारा ।।

है जिसका नहीं रंग, नहिं रूप रेखा ।
जिसे दिव्य दृष्टिहु से नहिं कोई देखा ।।
ये इन्द्रिन चतुर्दश में जो ना फँसा है ।
तथा कोई बन्धन से जो ना कसा है ।।
वही है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ।।१।।
त्रितन पाँच कोषन में जो ना बझा है ।
जो लम्बा न चौड़ा न टेढ़ा सोझा है ।।
नहीं जो स्थावर न जंगम कहावे ।
नहीं जड़ न चेतन की पदवी को पावे ।।
जो है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ।।२।।
नहीं आदि नहिं मध्य नहिं अन्त जाको ।
नहिं माया के ढक्कन से है पूर्ण ढाको ।।

पुरण ब्रह्म पदवीहु से जो तुलै ना ।
अगुण वा सगुण पदहु जामें लगै ना ।।
जो है परम पुर्ष सबको अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ।।३।।
सभी में भरा अंश रहता जिसी का ।
परन्तु जो होता न आकृत किसी का ।।
है निर्गुण सगुण ब्रह्म दोउ अंश जाको ।
समता न पाता कोई भी है जाको ।।
जो है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ।।४।।
ब्रह्म सच्चिदानन्द अरु वासनात्मक ।
मनोमय तथा ज्ञानमय प्राण आत्मक ।।
ओ ओंकार शब्दब्रह्म औ विश्वरूपी ।
ये सप्त ब्रह्म श्रेणी जिसे न पहूँची ।।
जो है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ।।५।।
नहीं जन्म जाको नहीं मृत्यु जाको ।
नहीं दश न चौबीस अवतार जाको ।।
अखिल विश्व में हू जो सब ना समाता ।
अपरा परा पूरि नहिं अन्त पाता ।।
जो है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ।।६।।
नहीं सूर्य सकता जिसे कर प्रकाशित ।
न माया ही सकती जिसे कर मर्यादित ।।
जो मन बुद्धि वाणी सबन को अगोचर ।
बताया हो चुप जिसको वाह्व मुनिवर ।।
जो है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ।।७।।

ज्यों का त्यों ही सदा जो सब के प्रथम से ।
जिसे उपमा देता बने कुछ न हमसे ॥
है जिसके सिवा आदि सब का ही भाई ।
अन आदि एक ही जो ही कहाई ॥
जो है परम पुर्ष सब को अधारा ।
सोई पीव प्यारा, सोई पीव प्यारा ॥८॥

॥ मंगल ॥

सृष्टि के पाँच हैं केन्द्रन सज्जन जानिये ।
सब से होते नाद हैं नौबत मानिये ॥१॥
यहि विधि नौबत पाँच बजैं सब राग में ।
परखहिं हरषहिं धसहिं जो अन्तर भाग में ॥२॥
अपरा परा द्वै प्रकृति दुहुन केन्द्र दो अहैं ।
कारण सूक्ष्म स्थूल के केन्द्रन तीन हैं ॥३॥
निर्मल चेतन परा कहिये केवल सोई ।
महाकारण अव्यक्त जड़ात्मक प्रकृति जोई ॥४॥
विकृति प्रथम जो रूप ताहि कारण कहैं ।
'मेँहीँ' परखि तू लेय अपन घट ही महैं ॥५॥

-- :: o :: --

पाँच नौबत बिरतन्त कहौं सुनि लीजिये ।
भेदी भक्त विचारि सुरत रत कीजिये ॥१॥
स्थूल सूक्ष्म सन्धि विन्दु पर परथम बाजई ।
दूसर कारण सूक्ष्म सन्धि पर नौबत गाजई ॥२॥
जड़ प्रकृति अरु विकृति सन्धि जोइ जानिये ।
महाकारण अरु कारण सन्धि सोइ मानिये ॥३॥
तिसरि नौबत यहि सन्धि पर सब छन बाजती ।
महाकारण कैवल्य की सन्धि विराजती ॥४॥
शुद्ध चेतन जड़ प्रकृति सन्धि यहि है सही ।
यहँ की धुनि को चौथि नौबत हम गुनि कही ॥५॥

निर्मल चेतन केन्द्र और ऊपर अहै ।
परा प्रकृति कर केन्द्र सोइ अस बुधि कहै ॥६॥
अत्यन्त अचरज अनुपम यहँ से बाजती ।
पंचम नौबत 'मेँहीँ' संसृति विसरावती ॥७॥

-- :: o :: --

खोजो पंथी पंथ तेरे घट भीतरे ।
तू अरु तेरो पीव भी घट ही अन्तरे ॥१॥
पिउ व्यापक सर्वत्र परख आवै नहीं ।
गुरुमुख घट ही माहिं परख पावै सही ॥२॥
तू यात्री पीव घर को चलन जो चाहहू ।
तो घट ही में पंथ निहारु विलम्ब न लावहू ॥३॥
तम प्रकाश अरु शब्द निःशब्द की कोठरी ।
चारो कोठरिया अहइ अन्दर घट कोट री ॥४॥
तू उतरि परयो तम माहिं पीव निःशब्द में ।
यहि तें परि गयो दूर चलो निःशब्द में ॥५॥
नयन कँवल तम माँझ से पंथहि धारिये ।
सुनि धुनि जोति निहारि के पंथ सिधारिये ॥६॥
पाँचो नौबत बजत खिंचत चढ़ि जाइये ।
यहि तें भिन्न उपाय न दिल बिच लाइये ॥७॥
सन्तन कर भक्ति भेद अन्तर पथ चालिये ।
'मेँहीँ' मेँहीँ धुनि धारि सो पन्थ पधारिये ॥८॥

॥ कजली ॥

(१)

नित प्रति सत्संग कर ले प्यारा, तेरा कार सरै सारा ।
सार कार्य को निर्णय करके, धर चेतन धारा ॥१॥
धर चेतन धारा, पिण्ड के पारा, दसम दुआरे का ।
जोति जगि जावै अति सुख पावै, शब्द सहारे का ॥२॥

लख बिन्दु नाद तहँ त्रय बन्द दै के सुनो सुनो 'मेँहीँ' ।
ब्रह्म नाद का धरो सहारा आपन तन में हीं ॥३॥

(२)

यहि मानुष देह समैया में करु परमेश्वर में प्यार ।
कर्म धर्म को जला खाक कर देंगे तुमको तार ॥टेक॥
तहँ जाओ जहँ प्रकट मिलें वे तब जानो है स्नेह ।
स्नेह बिना नहिं भक्ति होति है कर लो साँचा नेह ॥१॥
स्थूल सूक्ष्म कारण महाकारण कैवल्यहु के पार ।
सुष्मन तिल हो पिल तन भीतर होंगे सबसे न्यार ॥२॥
ब्रह्म-ज्योति ब्रह्म-ध्वनि को धरि धरि ले चेतन आधार ।
तन में पिल पाँचो तन पारा जा पाओ प्रभु सार ॥३॥
'मेँहीँ' मेँहीँ होइ सकोगे जाओगे वहि पार ।
पार गमन ही सार भक्ति है लो यहि हिय में धार ॥४॥

(३)

अद्‌भुत अन्तर की डगरिया जा पर चल कर प्रभु मिलते ॥टेक॥
दाता सतगुरु धन्य धन्य जो राह लखा देते ।
चलत पन्थ सुख होत महा है, जहाँ अझर झरते ॥१॥
अमृत ध्वनि की नौबत झहरत, बड़ भागी सुनते ।
सुनत लखत सुख लहत अद्‌भुती, 'मेँहीँ' प्रभु मिलते ॥२॥

उपदेश

॥चौपाई ॥

सुनिये सकल जगत के वासी । यह जग नश्वर सकल विनासी ॥१॥
यह जग धूम धाम रे भाई । यह जग जानो छली महाई ॥२॥
सबहिं कहा यहि अगमापाई*। तुम पकड़ा यहि जानि सहाई ॥३॥
मृग तृष्णा जल सम सुख याकी । तुम मृग ललचहु देखि एकाकी ॥४॥
याते भव दुख सहहु महाई । बिनु सतगुरु कहो कौन सहाई ॥५॥
यहि सराइ महँ निज नहीं कोई । सुत पितु मातु नारि किन होई ॥६॥

* क्षणभंगुर, नाशवान ।

भाई बन्धु कुटुम परिवारा । राजा रैयत सकल पसारा ॥७॥
सातो स्वर्गहु केर निवासी । दिव्य देव सब अमित विलासी ॥८॥
कोइ न स्थिर सबहिं बटोही । सत्य शान्ति एक स्थिर वोही ॥९॥
शान्ति रूप सर्वेश्वर जानो । शब्दातीत कहि सन्त बखानो ॥१०॥
क्षर अक्षर के पार हैं येहि । सगुण अगुण पर सकल सनेही ॥११॥
अलख अगम अरु नाम अनामा । अनिर्वाच्य सब पर सुख धामा ॥१२॥
ये सब मन पर गुण इनके ही । पड़े महा दुख संशय जेही ॥१३॥
यहि तुम्हरा निज प्रभु रे भाई । जहाँ तहाँ तब सदा सहाई ॥१४॥
इन्ह की भक्ति करो मन लाई । भक्ति भेद सतगुरु से पाई ॥१५॥
सतगुरु इन्ह में अन्तर नहीं । अस प्रतीत धरि रहु गुरु पाहीं ॥१६॥
गुरु सेवा गुरु पूजा करना । अनट बनट कछु मन नहीं धरना ॥१७॥
अनासक्त जग में रहो भाई । दमन करो इन्द्रिन दुःखदाई ॥१८॥
काम क्रोध मद मोह को त्यागो । तृष्णा तजि गुरु भक्ति में लागो ॥१९॥
मन कर सकल कपट अभिमाना । राग द्वेष अवगुण विधि नाना ॥२०॥
रस रस तजो तबहिं कल्याणा । धरि गुरुमत तजि मन मत खाना ॥२१॥
पर त्रिय झूठ नशा अरु हिंसा । चोरी लेकर पाँच गरिंसा ॥२२॥
तजो सकल यह तुम्हरो घाती । भव बंधन कर जबर संघाती ॥२३॥
दारू गाँजा भाँग अफीमा । ताड़ी चण्डू मदक कोकीना ॥२४॥
सहित तम्बाकू नशा हैं जितने । तजन योग्य तजि डारो तितने ॥२५॥
मांस मछलिया भोजन त्यागो । सतगुण खान पान में पागो ॥२६॥
खान पान को प्रथम सम्हारो । तब रस रस सब अवगुण मारो ॥२७॥
नित सतसंगति करो बनाई । अन्दर बाहर द्वै विधि भाई ॥२८॥
धर्म कथा बाहर सत्संगा । अंतर सत्संग ध्यान अभंगा ॥२९॥
नैनन मूँदि ध्यान को साधन । करो होइ दृढ़ बैठि सुखासन ॥३०॥
मानस नाम जाप गुरु केरा । मानस रूप ध्यान उन्हि केरा ॥३१॥
यहि अवलम्ब ध्यान कछु होई । पुनः दृष्टि बल कीजै सोई ॥३२॥
सुखमन विन्दु को धरो दृष्टि से । सुरत छुड़ाओ पिण्ड सृष्टि से ॥३३॥
धर कर विन्दु सुनो अनहद ध्वनि । विविध भाँति की होती पुनि पुनि ॥३४॥
ध्वनि सुनि चढ़ती सुरति जाई । अन्तर पट टूटै दुखदाई ॥३५॥
छाड़ि पिण्ड तम देश महाई । जोति देश ब्रह्माण्ड में जाई ॥३६॥

ध्वनि धरि याहू पार चढ़ाई । सुरत करै अब सुनै अघाई ॥३७॥
राम नाम धुन सतधुन सारा । सार शब्द तेहि सन्त पुकारा ॥३८॥
सो ध्वनि निर्गुण निर्मल चेतन । सुरत गहो तजि चलो अचेतन ॥३९॥
यहु ध्वनि लीन अध्वनि में होई । निर्गुण पद के आगे सोई ॥४०॥
मण्डल शब्द केर छुटि जाई । अधुन अशब्द में जाइ समाई ॥४१॥
अधुन अशब्द सर्वेश्वर कहिये । शान्ति स्वरूप याहि को लहिये ॥४२॥
अस गति होइ सो सन्त कहावै । जीवन मुक्त सो जगहि चेतावै ॥४३॥
सन्त मता कर भेद रे भाई । गाइ गाइ दीन्हा समुझाई ॥४४॥
जो जानै सो करै अभ्यासा । सत चित करि करै जग में वासा ॥४५॥
विरति पन्थ महँ बढ़े सदाई । सत्संग सों करै प्रीति महाई ॥४६॥
तोहि बोधे दृढ़ ज्ञान बताई । तब संशय तव देइ छोड़ाई ॥४७॥
ताको मानो गुरु सप्रीति । सेवो ताहि सन्त की नीती ॥४८॥
गुरु से कपट कछू नहिं राखो । उनके प्रेम अमिय को चाखो ॥४९॥
मीठी बोल बोलियो उनसे । अहंकार से सब कछु विनसे ॥५०॥
सो उनसे कभुँ करियो नाहिं । नहिं तो रहिहौ भव ही माहीं ॥५१॥

दोहा–समय गया फिरता नहीं, झटहिं करो निज काम ।
जो बीता सो बीतिया, अबहु गहो गुरु नाम ॥१॥
सन्तमता बिनु गति नहीं, सुनो सकल दे कान ।
जौं चाहो उद्धार को, बनो सन्त सन्तान ॥२॥
'मेँहीँ' मेँहीँ भेद यह, सन्तमता कर गाइ ।
सबको दियो सुनाई के, अब तू रहे चुपाइ ॥३॥

सन्तमत की बातें

॥ अरिल ॥

सन्तमते की बात कहुँ साधक हित लागी ।
कहुँ अरिल पद जोड़ि, जानी करिहैं बड़ भागी ॥
बातें हैं अनमोल, मोल नहिं एक-एक की ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' कहुँ जो चाहुँ कहन,
सन्त पद सिर निज टेकी ॥१॥

सत्जन सेवन करत, नित्य सत्संगति करना ।
वचन अमिय दे ध्यान, श्रवण करि चित्त में धरना ॥
मनन करत नहिं बोध होइ, तो पुनि समझीजै ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' समझि बोध जो होइ,
रहनि ता सम करि लीजै ॥२॥
करि सत्संग गुरु खोज करिये, चुनिये गुरु सच्चा ।
बिन सद्गुरु का ज्ञान पंथ, सब कच्चहिं कच्चा ॥
कुण्डलिया में कहूँ, सो सद्गुरु कर पहिचाना ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' जौ प्रभु दया सों मिलै,
सेविये तजि अभिमाना ॥३॥

॥ कुण्डलिया ॥

मुक्ती मारग जानते, साधन करते नित्त ।
साधन करते नित्त, सत्त चित्त जग में रहते ।
दिन दिन अधिक विराग, प्रेम सत्संग सों करते ॥
दृढ़ ज्ञान समुझाय, बोध दे कुबुधि को हरते ।
संशय दूर बहाय, सन्त मत स्थिर करते ॥
'मेँहीँ' ये गुण धर जोई, गुरु सोई सतचित्त ।
मुक्ती मारग जानते, साधन करते नित्त ॥

॥ अरिल ॥

सत्य सोहाता वचन कहिये, चोरी तजि दीजै ।
तजिये नशा व्यभिचार तथा हिंसा नहिं कीजै ॥
निर्मल मन सों ध्यान करिये, गुरु मत अनुसारा ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' कहूँ सो गुरुमत ध्यान,
सुनो दे चित्त सम्हारा ॥४॥
धर गर मस्तक सीध साधि, आसन आसीना ।
बैठि के चखु मुख मूनि, इष्ट मानस जप ध्याना ॥
प्रेम नेम सों करत-करत, मन शुद्ध हो ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' अब आगे को कहूँ,
सुनो दे चित्त सों ॥५॥

जहँ जहँ मन भगि जाइ, ताहि तहँ-तहँ से तल्छन ।
फेरि-फेरि ले आइ, लगाइय ध्येय में आपन ॥
ऐसेहि करि प्रतिहार, धारणा धारण करिके ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' औरो आगे बढ़िय,
चढ़िय धर धारा धरिके ॥६॥
धर धर धर की धार, सार अति चेतना ।
धर धर धर का खेल, जतन करि देखना ॥
धर में सुष्मन घाट, दृष्टि ठहराइ के ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' यहि घाटे चढ़ि जाव,
धराधर धाइ के ॥७॥
तजो पिण्ड चढ़ि जाव, ब्रह्माण्डहिं वीर हो ।
पेलो सुष्मन-दृष्टि, सिस्त ज्यों तीर हो ॥
विन्दु नाद अगुवाइ, तुमहिं ले जायँगे ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' ज्योति मण्डल सह नाद,
की शैर दिखायँगे ॥८॥
ज्योति मण्डल की शैर, झकाझक झाँकिये ।
तिल ढिग जुगनू जोति, टकाटक ताकिये ॥
होत बिज्जु उजियार, नजर थिर ना रहै ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' सुरत काँपती रहै,
ज्योति दृढ़ क्यों गहै ॥९॥
दृष्टि योग अभ्यास अतिहि, करतहि करत ।
कँपनी सहजहि छुटै, प्रौढ़ होवै सुरत ॥
तिल दरवाजा टुटै, नजर के जोर से ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' लगे टकटकी खूब,
जोर बरजोर से ॥१०॥
तीनों बन्द लगाइ देखि, सुनि धरि ध्वनि धारा ।
चलिय शब्द में खिंचत, बजत जो विविध प्रकारा ॥

झिंगुर का झनकार, भँवर गुंजार हो ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' घण्ट शंख शहनाइ,
आदि ध्वनि धार हो ॥११॥
तारा सह ध्वनि धार, टेम दीपक बरै ।
खुले अजब आकाश, अजब चाँदनी भरै ॥
पूर अचरजी चन्द, सहित ध्वनि कस लगे ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' जानै सोई धीर,
वीर साधन पगे ॥१२॥
साधन में पगि जाइ, अतिहि गम्भीर हो ।
या तन सुधि नहीं रहे, धीर वर वीर सो ॥
साँझ भोर दिन रैन कछू जानै नहीं ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' बाहर जड़वत् रहै,
माहिं चेतन सही ॥१३॥
जा सम्मुख या सूर्य, अमित अन्धार है ।
ऐसो सूर्य महान चन्द हद पार है ॥
होत नाद अति घोर शोर को को कहै ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' महा नगाड़ा बजै,
घनहु गरजत रहै ॥१४॥
आगे शून्य समाधि, नाद ही नाद की ।
लहै सन्त का दास, जाहि सुधि आदि की ॥
मीठी मुरली सुनै सुरत के कान से ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' बड़ा कौतुहल होइ,
ध्वनिन के ध्यान से ॥१५॥
सद्गुरु भेदी मिलै सैन, ध्वनि ध्यान बतावै ।
अनुपम बदले नाहिं, शब्द सो सार कहावै ॥
सोहू ध्वनि हो लीन, अध्वनि में जाइके ।
अरे हाँ रे 'मेँहीँ' अध्वनि अशब्द अनाम,
सन्त कहैं गाइके ॥१६॥

सार शब्द ध्वनि संग, सुरत हो अकह में लीनी ।
अध्वनि अशब्द अनाम, परम पद गति की भीनी ॥
द्वैत द्वन्द्व सों रहित, सो प्रभु पद पाइके ।
अरे हाँ रे 'मैंहीं' सुरत न लौटइ,
बहुरि न जन्मइ आइके ॥१७॥

॥ भैरवी ॥

योग हृदय वृत केन्द्र-विन्दु सुख-सिन्धु की खिड़की अति न्यारी ।
स्थूल धार खिन्नहु से खिन्नहु जेहि होइ कबहुँ न हो पारी ॥१॥
मन सह चेतन धार सुरत ही केवल पैठ सकै जामें ।
जेहि हो गमनत छुटत पिण्ड ब्रह्माण्ड खण्ड सुधि हो जामें ॥२॥
अपरा परा पर क्षर-अक्षर पर सगुण-अगुण पर जामें हो ।
चलि पहिचानति सुरति परम प्रभु भव दुख टर चलि जामें हो ॥३॥
जामें पैठत सुनिये अनाहत शब्द की खिड़की याते जो ।
ब्रह्मज्योति भी जामें झलकत ज्योति-द्वारहु याते जो ॥४॥
दृष्टि जोड़ि एक नोक बना जो ताकै देखै याको सो ।
'मेँहीँ' अति मेँहीँ ले द्वारा सतगुरु कृपा पात्र हो सो ॥५॥

-- :: ० :: --

योग हृदय में वास ना तन-वास है तो क्या ।
सत् सरल युक्ति पास ना और पास है तो क्या ॥१॥
सद्गुरु कृपा की आस ना और आस है तो क्या ।
करता जो नित अभ्यास ना विश्वास है तो क्या ॥२॥
अन्तर में हो प्रकाश ना बाहर प्रकाश क्या ।
अन्तर्नाद का उपास्य ना दीगर उपास्य क्या ॥३॥
पालन हो सदाचार ना आचार 'मैंहीं' क्या ।
गुरु हरि चरण में प्रीति ना रूखा विचार क्या ॥४॥

--:: ० :: --

एकविन्दुता दुर्बीन हो दुर्बीन क्या करे ।
पिण्ड में ब्रह्माण्ड दरश हो बाहर में क्या फिरे ॥१॥
सुनना जो अन्तर्नाद हो बाहर में क्या सुने ।
ब्रह्मनाद की अनुभूति हो फिर और क्या गुने ॥२॥
सुरत-शब्द-योग हो और योग क्या करे ।
सहज ही निज काज हो, कटु साज क्या सजे ॥३॥
सद्गुरु कृपा ही प्राप्त हो अप्राप्त क्या रहे ।
'मेँहीँ' गुरु की आस हो, भव-त्रास क्या रहे ॥४॥

॥ सन्तों की आज्ञा ॥

योग हृदय-केन्द्र-विन्दु में युग दृष्टियों को जोड़िकर ।
मन मानसों को मोड़ि सब आशा निराशा छोड़िकर ॥१॥
ब्रह्म-ज्योति ब्रह्म-ध्वनि धार धरि आवरण सारे तोड़िकर ।
सुरत चला प्रभु मिलन को विषयों से मुख को मोड़िकर ॥२॥
झूठ चोरी नशा हिंसा और जारी छोड़िकर ।
गुरु ध्यान अरु सत्संग-सेवन में स्वमति को जोड़िकर ॥३॥
जीवन बिताओ स्वावलम्बी भरम-भाँड़े फोड़िकर ।
सन्तों की आज्ञा हैं ये 'मेँहीँ' माथ धर छल छोड़िकर ॥४॥

-- :: ० :: --

गुरु-हरि-चरण में प्रीति हो युग-काल क्या करे ।
कछुवी की दृष्टि दृष्टि हो जंजाल क्या करे ॥१॥
जग-नाश का विश्वास हो फिर आस क्या करे ।
दृढ़ भजन-धन ही खास हो फिर त्रास क्या करे ॥२॥
वैराग-युत अभ्यास हो निराश क्या करे ।
सत्संग-गढ़ में वास हो भव-पाश क्या करे ॥३॥
त्याग पंच पाप हो फिर पाप क्या करे ।
सत् वरत में दृढ़ आप हो कोइ शाप क्या करे ॥४॥
पूरे गुरू का संग हो अनंग क्या करे ।
'मेँहीँ' जो अनुभव ज्ञान हो अनुमान क्या करे ॥५॥

कजली

प्रभु मिलने जो पथ धरि जाते, घट में बतलाये;
सन्तन घट में बतलाये ॥ टेक ॥
प्रेमी भक्तन धर सो मारग, चलो चलो धाये;
सन्तन घट-पथ हो धाये ॥ १ ॥
अन्धकार अरु जोति शब्द, तीनों पट घट के से;
राह यह जावै है ऐसे ॥ २ ॥
जोति नाद का मार्ग बना यह, धरा जाय तिल से;
लो धर यत्न करो दिल से ॥ ३ ॥
बाल नोक से मेँहीँ दर 'मेँहीँ' हो पथ पावें;
सन्त जन तामें धँसि धावें ॥ ४ ॥

-- :: ० :: --

सुष्मनियाँ में नजरिया थिर होइ, बिन्दु लखी तिल की॥ टेक ॥
झक-झक जोती जगमग होती, चकमक-चकमक-सी।
मोती हीरा ध्रुव-सा तारा, विद्युत हू चमकी॥ १ ॥
बरे जोति ध्वनि होति अनाहत, यन्त्र ताल बिन ही।
लखत सुनत स्रुत चलत नेह भरि, नाह-राह थिरकी॥ २ ॥
मर्मी सज्जन सत्य भक्त सों, अन्तर मग एही।
चलत-चलत ध्वनि सार गहे ले, मेटि जरनि जी की ॥ ३ ॥
सार शब्द ही नाह मिलावै, और नहीं कोई।
'मेँहीँ' कही जो सन्तन भाषी, बात नहीं निज की॥ ४ ॥

-- :: ० :: --

जीवो! परम पिता निज चीन्हो, कहते सन्तन हितकारी ॥ टेक ॥
द्वैत प्रपंच के सागर बूड़ो, सहो दुक्ख भारी।
तन मन इन्द्रिन संग अजाना, हो होती ख्वारी ॥ १ ॥
गुरु गम से सुष्मन में पैठि के, अन्तर पथ धारी।
ब्रह्म जोति ब्रह्मनाद धार धरि, हो सबसे न्यारी ॥ २ ॥

द्वैत पार तन मन बुधि पारा, ज्ञान होय सारी।
'मेँहीँ' सो पितु चीन्ह में आवैं, दुक्ख टरै भारी ॥ ३ ॥

-- :: ० :: --

सूरति दरस करन को जाती, तकती तीसरि तिल खिरकी ॥ टेक ॥
जोति बिन्दु ध्रुवतार इन्दु लखि, लाल भानु झलकी।
बजत विविध विधि अनहद शोरा, पाँच मण्डलों की ॥ १ ॥
सन्तमते का सार भेद यह, बात कही उनकी।
समझा 'मेँहीँ' लखा नमूना, बात है सत हित की ॥ २ ॥

-- :: ० :: --

भाई योग हृदय वृत केन्द्र बिन्दु, जो चमचम चमकै ना ॥ टेक ॥
नजर जोड़ि तकि धँसै ताहि में, धुनि सुनि पावै ना।
सुरत शब्द की करै कमाई, निज घर जावै ना ॥१॥
निज घर में निज प्रभु को पावै, अति हुलसावै ना।
'मेँहीँ' अस गुरु सन्त उक्ति, यम-त्रास मिटावै ना ॥२॥

-- :: ० :: --

मन तुम बसो तीसरो नैना महँ तहँ से चल दीजो रे ॥ टेक ॥
स्थूल नैन निज धार दृष्टि दोउ सन्मुख जोड़ो रे।
जोड़ि जकड़ि सुष्मन में पैठो गगन उड़ीजो रे ॥ १ ॥
तन संग त्यागि त्यागि उड़ि लीजो धार धरीजो रे।
'मेँहीँ' चेतन जोति शब्द की सो पकड़ीजो रे ॥ २ ॥

-- :: ० :: --

जहाँ सूक्ष्म नाद ध्वनि आज्ञा आज्ञाचक्र करो डेरा।
द्वार सूक्ष्म सुष्मन तिल खिड़की पील करो पारा ।। १ ।।
नयन कान दोउ जोड़ि छोड़ि करि मन मानस सकलो ।
टुक टिको सामने प्रेम नेम करि अधर डगर धर लो ॥ २ ॥
जगमग जोति होति ध्वनि अनहद गैब का बज बाजा।
ध्वनि सुनि सुनि चढ़ना सत ध्वनि धरना 'मेँहीँ' सर काजा ॥ ३ ॥

॥ आरती ॥

(१)

अज अद्वैत पूरण ब्रह्म पर की । आरति कीजै आरतहर की ॥
अखिल विश्व भरपूर अरु न्यारो । कुछ नहिं रंग न रेख अकारो ॥
घट-घट विन्दु विन्दु प्रति पूरन । अति असीम नजदीक न दूर न ॥
वाष्पिय तरल कठिनहु नाहीं । चिन्मय पर अचरज सब ठाहीं ॥
अति अलोल अलौकिक एक सम । नहिं विशेष नहिं होवत कछु कम ॥
नहिं शब्द तेज नहीं अँधियारा । स्वसंवेद्य अक्षर क्षर न्यारा ॥
व्यक्त अव्यक्त कछु कहि नहिं जाई । बुधि अरु तर्क न पहुँचि सकाई ॥
अगम अगाध महिमा अवगाहा । कहन में नाहीं कहिये काहा ॥
करै न कछु कछु होय न ता बिन । सब की सत्ता कहै अनुभव जिन ॥
घट-घट सो प्रभु प्रेम सरूपा । सब को प्रीतम सब को दीपा ॥
सोइ अमृत ततु अछय अकारा । घट-कपाट खोलि पाइये प्यारा ॥
दृष्टि की कुंजी सुष्मन द्वारा । तम-कपाट तीसर तिल तारा ॥
खोलिये चमकि उठे ध्रुव तारा । गगन थाल भरपूर उजेरा ॥
दामिनि मोती झालरि लागी । सजै थाल विरही वैरागी ॥
स्याही सुरख सफेदी रंगा । जरद जंगाली को करि संगा ॥
ये रंग शोभा थाल बढ़ावैं । सतगुरु सेइ-सेइ भक्तन पावैं ॥
अचरज दीप-शिखा की जोती । जगमग-जगमग थाल में होती ॥
असंख्य अलौकिक नखतहु तामें । चन्द औ सूर्य अलौकिक वामें ॥
अस ले थाल बजाइये अनहद । अचरज सार शब्द हो हद-हद ॥
शम-दम धूप करै अति सौरभ । पुष्प-माल हो यम नीयम सभ ॥
अविरल भक्ति की प्रीति प्रसादा । भोग लगाइय अति मर्यादा ॥
प्रभु की आरति या विधि कीजै । स्वसंवेद्य आतम पद लीजै ॥
अकह लोक आतम पद सोई । पहुँचि बहुरि आगमन न होई ॥
सन्तन्ह कीन्हीं आरति एही । करै न पड़ै बहुरि भव 'मेँहीँ' ॥

(२)

आरति परम पुरुष की कीजै । निर्मल थिर चित्त आसन दीजै ॥
तन-मन्दिर महँ हृदय सिंहासन । श्वेत बिन्दु मोति जड़ दीजै ॥
अविरल अटल प्रीति को भोगा । विरह-पात्र भरि आगे कीजै ॥
जत-सत संयम फूलन हारा । अरपि-अरपि प्रभु को अपनीजै ॥
धूप अकाम अरु ब्रह्म हुताशन । तोष धूपची धरी फेरीजै ॥
तारे चन्द्र सूर दीपावलि । अधर-थार भरि आरति कीजै ॥
आतम अनुभव ज्योति कपूरा । मध्य आरती थार सजीजै ॥
अनहद परम गहागह बाजा । सार शब्द ध्वनि सुरत मिलीजै ॥
द्वन्द्व द्वैत भ्रम भेद विडारन । सतगुरु सेइ अस आरति कीजै ॥
'मेँहीँ' मेँहीँ आरति येही । करि-करि तन मन धन अरपीजै ॥

(३)

आरति अगम अपार पुरुष की । मल निर्मल पर पर दुख-सुख की ॥
शीत उष्णादि द्वन्द्व पर प्रभु की । अविनाशी अविगत अज विभु की ॥
मन बुधि चित्त पर पर हंकार की । सर्व व्यापी अरु सब तें न्यार की ॥
रूप गन्ध रस परस तें न्यार की । सगुण अगुण पर पार असार की ॥
त्रय गुण दश इन्द्रिन तें पार की । अमृत ततु प्रभु परम उदार की ॥
पुरुष प्रकृति पर परम दयाल की । ब्रह्म पर पार महा हु काल की ॥
अति अचरज अनुपम ततु सार की । अति अगाध वरणन तें न्यार की ॥
अकह अनाम अकाम सुपति की । जन-त्राता दाता सद्गति की ॥
अखिल विश्व मण्डप करि उर की । पूर्ण भरे ता महँ प्रभु धुर की ॥
दिव्य ज्योति आतम अनुभव की । दिव्य थाल अभ्यास-भजन की ॥
असि आरति 'मेँहीँ' सन्तन की । करि तरि हरिय दुसह दुख तन की ॥

॥ सत्संग-योग, चौथा भाग समाप्त ॥